UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182334

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 S53R Accession No. G. H22999

Author शर्मा, रामविलास

Title रूपतरंग. 1956.

This book should be returned on or before the date last marked below.

रूपतरंग

(कविता संग्रह)

डा० रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड आगरा

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण—१९५६
मूल्य २)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा।

कवि-मित्र नरेन्द्र शर्मा को

"रूपाभ" की स्मृति में यह "रूप तरंग"

शुक्लजी के इन शब्दों के साथ—

"संसार सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।"

भूमिका

इस कविता-संग्रह की प्रकाशन-तिथि निरालाजी की साठवीं जन्म-तिथि भी है। इस अवसर पर मैं हार्दिक कृतज्ञता के साथ महाकवि के साथ अपने सम्पर्क का स्मरण करता हूँ।

लगभग अड़तीस वर्ष पहले श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी द्वारा संकलित एक कविता-संग्रह मेरे हाथ लगा था। उन दिनों मैं झाँसी में पढ़ता था। इन्टर-मिडियेट कक्षा के सहपाठी श्री बालनारायण पेंढरकर के साथ नित्य काव्य-चर्चा हुआ करती थी। श्री पेंढरकर स्वयं मराठी के कवि हैं और बँगला कविता से मेरा पहला परिचय उन्हीं के द्वारा हुआ। मैथमेटिक्स में अनेक बार फेल होकर मेरे सहपाठी ने कठोर काव्य-साधना की थी। यथाशक्ति उस साधना से उन्होंने मुझे भी लाभान्वित कराया। अँग्रेज़ी के अनेक कवियों के साथ-साथ उन्होंने अनेक मराठी कवियों की रचनाएँ सुनाईं और ऐसा वातावरण तैयार किया कि मैथमेटिक्स मैं सब भूल गया और वे रचनाएँ अब भी याद हैं। कविता मात्र से मेरा यह प्रथम परिचय था। इससे पहले कविता पढ़ी थी लेकिन यह अनुमान न किया था कि वह इतनी सुन्दर भी होगी और हृदय को इतना आन्दोलित कर सकती है। तभी निरालाकी काव्य-सरस्वती से मेरा परिचय हुआ और उस परिचय का आनन्द एक अरुण आलोक बनकर सारे वातावरण पर छा गया। कहते हैं कि प्रथम प्रणय की याद कभी भुलाई नहीं जा सकती। निराला की कविता से उस प्रथम परिचय का आनन्द भी मैं कभी नहीं भूला। साधारणीकरण द्वारा निरालाकी कविता मेरे लिए कविता मात्र बन गई।

शान्तिप्रिय जी के संग्रह में कोमलकान्त पदावली के अन्य कवियों की रचनाएँ भी थीं लेकिन वह कोमलता हल्की थी, प्राणों को स्पर्श न करती थी, उसमें ओज का अभाव था, एक सशक्त व्यक्तित्व की गम्भीर साधना न थी। अन्य कवियों की तुलना में मुझे निराला वैसे ही लगे जैसे विन्ध्याचल

की तुलना में हिमालय। तबसे मेरी उस धारणा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। निराला को लेकर हिन्दी में कितना संघर्ष हो चुका है, तब मुझे इसका पता न था। सन् '३४ में यह संघर्ष ही मुझे आलोचना के क्षेत्र में घसीट लाया और मेरा पहला आलोचनात्मक निबन्ध निराला की काव्य-प्रतिभा के समर्थन में प्रकाशित हुआ। सम्भव है, यह संघर्ष न होता—मेरे प्रिय कवि पर द्वेषपूर्ण आरोपो की वर्षा न की गई होती—तो मैं आलोचना के क्षेत्र में आता ही नहीं। आज वह विरोधी कोलाहल शान्त हो गया है। दिन-दिन निराला की प्रतिभा अपने वास्तविक प्रकाश मे जनता के सामने आ रही है। यह हिन्दी के नए युग की विजय है, उस नई काव्य-रुचि की विजय है जिसके लिए निराला ने अनवरत संघर्ष किया है। इस विजय से निराला-साहित्य के सभी प्रेमियों को सन्तोष होना स्वाभाविक है।

झांसी में क्षीणकाय संग्रह "अनामिका" से अपनी प्यास बुझाते हुए मैंने यह कल्पना भी न की थी कि कवि से कभी साक्षात् परिचय भी होगा। लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए मैं उन्हें दूर से देख लेता था और बिएट्रिस के मौन दर्शक दान्ते की तरह मन ही मन प्रसन्न हो लेता था। (न मैं दान्ते हूँ, न निरालाजी बिएट्रिस लेकिन मेरा आनन्द दान्ते से कम न था, यह जरूर कहूँगा।) एक दूकान पर "परिमल" खरीदते हुए उनसे मेरा मौन परिचय मुखर बना। तब से जब तक वह लखनऊ में रहे, शायद ही कोई दिन रहा हो जब मैं उनके साथ न रहा हूँ। उन्होने मेरे लिए एक और भी विस्तृत काव्य-संसार का द्वार खोल दिया। कितने तन्मय होकर वह दूसरों के काव्य में रस लेते हैं, यह मैंने देखा। दूसरों की प्रतिभा के लिये उन्होंने मेरी श्रद्धा जाग्रत की। "आत्मकेन्द्रित", "अहंकारी" निराला को मैंने दूसरों की रचनाओं से ही सबसे अधिक विह्वल होते देखा। स्वगत जब वह भवभूति की ये पंक्तियाँ दोहराते थे—

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।—

तब उनके अहंकार से सहानुभूति होना अनिवार्य था।

लखनऊ विश्वविद्यालय में रिसर्च करते हुए अनिश्चित भविष्य के प्रति

सशंक रहते हुए भी उन दिनों मेरा जीवन कवितामय था। कविता की चर्चा करने वाले स्वयं निराला थे और सबसे रोचक कविता वह स्वयं थे। हिन्दी, उर्दू, बँगला, अँग्रेजी, संस्कृत—सभी की कविता चर्चा का विषय थी। तुलसीदास की करुणा का पता निराला के आर्द्र कण्ठ से लगा। रवीन्द्रनाथ के सौन्दर्य-स्वप्न उनकी आँखों में जगमगाते दिखाई पड़े। शेक्सपियर की सार्वजनीनता "खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन" मे प्रतिध्वनित हुई। कालिदास की "तन्वी श्यामा शिखरिदशना" कवि को अतीत के स्वप्नों में विभोर कर देती थी। और फटेहाल निराला के जीवन मे ग़ालिब की तलखी, उसका दर्द और आत्मविश्वास चरितार्थ होता था जब वह कहते थे—"हम सुखनफहम हैं ग़ालिब के तरफदार नहीं" या "क़र्ज़ की पीते थे मै लेकिन समझते थे कि हाँ, रंग लायेगी हमारी फ़ाकामस्ती एक दिन।" और जब वह "तुलसीदास" और "राम की शक्ति पूजा" पढ़ते थे, तब जन-संस्कृति की वह अदम्य परम्परा साकार हो उठती थी जो युगों-युगों से इस धरती पर जीवित रही है। इस तरह निराला में समस्त काव्य-संसार मूर्त्तिमान हो उठता था।

लेकिन इन सबसे भी महान् था निराला का व्यक्तित्व, केवल मानव, वह जो सभी साहित्य से सरस था, जिसे स्वयं निराला की व्यंजनाशक्ति भी पूरी तरह प्रकट नहीं कर पाई। मेरे मन में एक अनिर्वचनीय संस्कार के रूप में उसकी स्मृति बनी हुई है।

साक्षात् कविता के साथ रहकर भी जो कविता न करे, यह सौभाग्य मुझे ही प्राप्त था। बड़ों के साथ रहने से ही कोई बड़ा नहीं होता, यह मै जानता था। अपने छुटपन से मैं अपरिचित न था। कवि बनने की साध मुझमें नहीं थी—कविता संग्रह छपवाना और बात है। यह नहीं कि प्रोत्साहन न मिला हो। निरालाजी मेरी कविताएँ सुनते ही न थे, एक बार उन्होंने मेरा गीत "चन्द्र किरणों से गगन-मन" बड़े प्रेम से गाया भी। मैं इसे प्रोत्साहन रूप में ही ग्रहण करता था, इसीलिए वह और उस जैसे अनेक गीत इस संग्रह में नहीं हैं।

यह प्रोत्साहन निराला जी तक सीमित रहता तो शायद यह संग्रह प्रका-

शित न होता। मेरे एक दूसरे प्रोत्साहनदाता श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी हैं। पंतजी ने "रूपाभ" में मेरी बहुत सी कविताएं ही नहीं छापीं, इस संग्रह को प्रकाशित करने के लिये उन्होंने उकसाया भी। एक दिन बम्बई में श्री नरेन्द्र शर्मा के यहां पन्तजी "स्वर्ण किरण" की अपनी अप्रकाशित रचनाएं सुना रहे थे और मैं उनकी मौखिक आलोचना कर रहा था। उन्होंने विषय बदल कर कहा—मुझे तुम्हारी कविताएं बहुत अच्छी लगती हैं। मैंने पूछा—कितनी ? बोले—नरेन्द्र की कविताओं से भी ज़्यादा। मैंने कहा—आप इतना ही लिख दीजिये तो मैं अपना कविता-संग्रह छपवा लूँ।

पंतजी ने भूमिका लिखने का वादा किया लेकिन मेरे लिये उनका वादा ही काफी था। जब मुझ जैसा साधारण लेखक भूमिकाए लिखने से परेशान हो गया है तब पंतजी के शब्दों को अभिधात्मक ढंग से समझना उनके साथ अन्याय करना होगा। पिछले दिसंबर जब वह दिल्ली में फिर नरेन्द्र शर्मा के यहाँ मिले तो उन्होंने इतने मधुर ढंग से नरेन्द्र शर्मा से मेरी तुलना वाली बात वापस ली कि मेरे लिये प्रोत्साहन की मात्रा और भी बढ़ गई। आलोचक रूप में पंतजी की पहली बात को मैंने अक्षरशः सत्य नहीं माना, न बाद-वाली को। नरेन्द्र जी ने कविताएं न लिखने के लिये फटकारा ज़रूर।

इधर मेरे नामराशि की अनेक कविताएं पत्रों में छपी हैं। इसके लिये बधाइयों के पत्र भी मेरे पास आये हैं जिन्हें चुपचाप सहर्ष मैंने रख लिया है। इन्दौर जाते हुए एक सज्जन से बहस हो गई। वह बोले—कल आप मुरैना के कवि सम्मेलन में गये थे। मैंने कहा—मैं कवि सम्मेलनों में नहीं जाता और मुरैना आज तक नहीं गया। वह मेरी बुद्धि पर तरस खाकर अखबार खरीद लाये और उसमें रामविलास शर्मा यह नाम छपा दिखाकर मुस्कराने लगे।

अब कहीं आलोचक की हैसियत से जाता हूँ तो लोग कविता सुनाने की फर्माइश करने लगते हैं।

यहाँ तक कि नरेन्द्रकी शिकायत सुनकर पंतजी बोले—नहीं, अभी हाल में मैंने इनकी एक कविता कहीं पढ़ी थी; मुझे बहुत सुन्दर लगी। मैं चुप भी रहता लेकिन नरेन्द्र ने उन्हें साधिकार समझा दिया कि उनकी प्रशंसा का

पात्र मैं नहीं हूँ।

दूसरों की कीर्ति से लाभ उठाना उचित नहीं। लेकिन इस सुयोग से यदि अपना कविता-संग्रह छप जाय तो बहुत अनुचित भी नहीं। आजकल कविताएं छापने में प्रकाशक असमर्थता ही प्रकट करते हैं। फिर अज्ञातनाम कवि-और मुझ जैसे नेकनाम आलोचक—की कविताएं! इन्हें प्रकाशित करके जो हानि होगी, उसे लाभ में बदलने के लिये मैंने एक आलोचना-पुस्तक लिखने का वादा भी किया है। "तुलसी जस भवितव्यता।" प्रोत्साहनों और गलतफहमियों से विवश होकर यह संग्रह आपके करकमलों मे भेंट कर रहा हूँ। आप अकारण मुझ पर कोप न करें, इसलिये यह कैफियत देना ज़रूरी था।

इस संग्रह की पहली कविता निरालाजी पर है। एक बार वह कर्वी में बीमार पड़े थे और उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। प्रयाग में उन्हें इस ध्वस्त और जर्जर रूप में देखकर मैंने यह कविता लिखी थी। "मातृतीर्थ" में तमिल कवि सुब्रह्मण्यम् भारती का उल्लेख है। उनकी विधवा पत्नी से भारती का गीत सुनकर मैंने उसे लिखा था। "पीरपजाल" में कश्मीर घाटी तक पहुँचने और मार्ग के पर्वतो का उल्लेख है। "ऋतुसंहार" अपने गांव में आग लगने पर लिखी थी। "वन्दिनी कोकिला" के "मित्र" मेरे एक मित्र हैं। इनमें से अनेक कविताओ में कालिदास की ओर संकेत है, "ऋतुसंहार" में कुमारसंभव के वसन्त वर्णन, "पीरपंजाल" मे मेघदूत और "कवि" में कालिदास के जीवन और साहित्य की ओर। "किसान कवि" पद्मीस जी हैं। इतना कहने का उद्देश्य यह है कि जहाँ तहाँ रूप-विधान निरर्थक न जान पड़े।

श्री रघुनाथ विनायक तावसे ने "तार सप्तक" में प्रकाशित मेरी कविताओं पर "हंस" में एक लेख लिखा था। उनका आभार स्वीकार करते हुए उसे मैं "परिचय" रूप में दे रहा हूँ। "तार सप्तक" में कुछ कविताओं के प्रकाशित होने से कुछ विद्वान् प्रयोगवाद के साथ उनकी चर्चा भी करते रहे हैं। इस संग्रह से, आशा है, उनका यह भ्रम दूर हो जायगा।

आगरा,
वसंत पचमी, २०१२।

रामविलास शर्मा

परिचय

मैं आज एक ऐसे कवि के काव्य का परिचय कराने जा रहा हूँ जो हिन्दी में अधिकतर प्रगतिशील आलोचक के रूप में प्रसिद्ध है। हिन्दी-अलोचना-जगत् में समाजवादी सिद्धान्तो की स्थापना करने वालों में दो नाम प्रमुख हैं—श्री शिवदानसिंह चौहान और श्री रामविलास शर्मा। रामविलासजी आलोचक तो हैं ही, उन्होने एक भावुक कविहृदय भी पाया है, जिसमें जवानी की हुंकार के साथ-साथ भारतीय ग्राम-सौन्दर्य तथा सर्वहारा वर्ग की वेदनाएँ भी सश्लिष्ट हैं। फलतः आलोचक मन के कटु व्यग्यो की पुट भी उनकी कविताओं में कहीं-कहीं दिखाई देती है; ऐसी स्थिति मे कविता प्रचार भी हो गयी है।

'तार सप्तक' में आपकी जो कविताएँ सकलित हैं, उन्हीं कविताओ को लेकर मै यहाँ कुछ कहने का साहस कर रहा हूँ। 'तार सप्तक' के सातो कवियों मे दो ही कवि ऐसे हैं, जिनके काव्य मे (objectivity) बहिर्मुखी प्रवृत्ति गहरे रूप में फूट उठी है। वे हैं श्री रामविलास शर्मा और श्री प्रभाकर माचवे। माचवेजी कविताएँ अधिकतर लिखते कम और गढ़ते अधिक प्रतीत होते हैं; यह उनकी कविताओ से ठीक समझा जा सकता है क्योकि उनकी कविताएँ 'तार सप्तक' में पद्य न रहकर गद्य अधिक हो गयी हैं। फिर शब्दो की ऊट-पटाँग तुको ने तो 'कविता' का रस ही भग कर दिया है। रामविलास जी का काव्य इस शिकायत से दूर ग्रामश्री के अभिनव सौन्दर्य, सुरम्य एव मर्मस्पर्शी सूझ से भरा हुआ है। रामविलासजी का अपने वक्तव्य में कहना है कि 'मैंने कविता के शाश्वत सत्यों की खोज की हो, यह भी दिल पर हाथ रख कर नहीं कह सकता।' आपका यह भी कहना है कि 'कविता लिखने में मेहनत पड़ती है।' 'अज्ञेय' जी ने शर्माजी की इस शिकायत के बारे में भी ठीक कहा है कि आपको 'आलोचना का चसका है और उसका अवसर पाकर वे लेखनी या मसी की प्रतीक्षा अनिवार्य नहीं समझते।' फिर भी कविता

लिखने में मेहनत पड़ती है या नहीं, यह तो कवि की मानसिक प्रवृत्ति या स्वभाव पर निर्भर है। हम यहाँ इन शंकाओं को छोड़ कर कवि की कविताओं में प्रकट होने वाले नूतन समाजगत भावों और विचारों के साथ-साथ काव्य की 'नवीन शैली' पर सोचें तो कुछ हासिल होने की सम्भावना है। अतः कवि के भावों और विचारों की ओर हम जिज्ञासु दृष्टि से देखें तो जान पड़ेगा कि रामविलासजी का काव्य प्रगतिवादी कही जाने वाली आधुनिक कविता से एक कदम आगे है। उसका अपना अलग महत्त्व है।

भावजगत् की दृष्टि से देखेंगे तो रामविलासजी की कविताएँ अनुभूति की तीव्रता और प्रखरता से भव्य और प्रदीप्त ही प्रतीत होंगी। इसका यह कारण है कि उनके 'मन का आकलन' जीवन की नाना अवस्थाओं से ऐक्य बनाये हुए हैं। यों तो ग्रामीण सौंदर्य का चित्रण करने वाले आधुनिक कवियों में पन्तजी का नाम अधिक प्रसिद्ध है किन्तु मुझे कहने दीजिए कि पन्तजी का समग्र प्रकृति चित्रण एवं ग्रामश्री का वर्णन अनुभूतिहीन और बौद्धिक अधिक है। यह पन्तजी ने स्वयं भी स्वीकार किया है [आधुनिक कवि, भाग दो]। यहां मैं यह कह कर पन्तजी के काव्य की महत्ता पर कोई प्रहार नहीं कर रहा हूँ, वरन् यह दरसाने की चेष्टा कर रहा हूँ कि अनुभूतिमय चित्रों में और अनुभूतिहीन चित्रों में क्या अन्तर हमें दिखायी देता है। अतः रामविलासजी का काव्य अनुभूतिजन्य इसी अर्थ में है कि वे प्रकृति को जिस रूप में देखते हैं, उसी रूप में उसे अपने भाव में ग्रहण करते हैं, न कि अपने हृदय के स्वप्नों का आरोप प्रकृति पर करते हैं। छायावाद में यही मूल दोष था। रामविलासजी ने प्रकृति को अपने असली रूप में किस तरह ग्रहण किया है, इसके प्रमाण के लिए ये उदाहरण पर्याप्त होंगे—

'नीले रंग में डूब गया सारा नभमण्डल,
पूर्व दिशा में उठे घने दल के दल बादल।
लहराती पुरवाई के झोंकों पर आये,
धूलभरे लू से झुलसे खेतों पर छाये।
आमों की सुगंध से महक उठी पुरवाई!
पिउ पिउ के मृदुरव से गूँज उठी अमराई।

जग के दग्ध हृदय पर गह गह बादर बरसे।
डह डह अंकुर फूटे वसुधा के अन्तर से।'

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्षागम का चित्र हमारे सम्मुख तत्क्षण आ जाता है। दूसरा उदाहरण देखना हो तो इन्हीं पंक्तियों में आगे कवि कहता है—

'यह असाढ़ का पहला दिन ये काले बादल
लू से झुलसे हाड़ों को करते हैं शीतल।'

इन दो पंक्तियों मे ही पढ़नेवाला चित्र के भाव से अभिभूत हो जाता है। या फिर उस ग्रामश्री का अनुभव कीजिए जहाँ किसान झोंपड़ी पर लौट आया है—

'उजली कुंआर की धूप अकेली पड़ी हार में
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।
पागुर करतीं छाँहीं मे, कुछ गभीर अधखुली आँखों से
बैठी गायें करतीं विचार!

× × ×

भर रहे मकाई ज्वार बाजरे के दाने
चुगतीं चिड़ियाँ पेड़ों पर बैठीं झूल झूल।
पीले कनेर के फूल सुनहले फूले पीले
लाल लाल झाड़ी कनेर की, लाल फूल!
बिकसी फूटे पकतीं कचेलियाँ बेलों मे
ढो ले आती ठंढी बयार सोंधी सुगन्ध!'

ग्रामप्रकृति की झलक देखते हुए कवि अपने अन्तस्तल मे पिछली स्मृतियों के बन्द द्वार खोलने में सलग्न होकर उसको 'अपलक देखकर' भी उस 'छवि को निराकार' पाते हुए पुनः अपनी वर्त्तमान छवि पर लौट आता है जिसके आगे 'अनागत का अन्धकार' गरज रहा है।

कवि प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करता हुआ प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाले वर्तमान भारतीय किसान की दयनीय दशा का वर्णन भी मर्मस्पर्शी ढंग से उपस्थित करता है। देखिए—

लिखने में मेहनत पड़ती है या नहीं, यह तो कवि की मानसिक प्रवृत्ति या स्वभाव पर निर्भर है। हम यहाँ इन शंकाओं को छोड़ कर कवि की कविताओं में प्रकट होने वाले नूतन समाजगत भावो और विचारों के साथ-साथ काव्य की 'नवीन शैली' पर सोचें तो कुछ हासिल होने की सम्भावना है। अतः कवि के भावों और विचारों की ओर हम जिज्ञासु दृष्टि से देखें तो जान पड़ेगा कि रामविलासजी का काव्य प्रगतिवादी कही जाने वाली आधुनिक कविता से एक कदम आगे है। उसका अपना अलग महत्त्व है।

भावजगत् की दृष्टि से देखेगे तो रामविलासजी की कविताएँ अनुभूति की तीव्रता और प्रखरता से भव्य और प्रदीप्त ही प्रतीत होगी। इसका यह कारण है कि उनके 'मन का आकलन' जीवन की नाना अवस्थाओं से ऐक्य बनाये हुए हैं। यों तो ग्रामीण सौंदर्य का चित्रण करने वाले आधुनिक कवियों में पन्तजी का नाम अधिक प्रसिद्ध है किन्तु मुझे कहने दीजिए कि पन्तजी का समग्र प्रकृति चित्रण एवं ग्रामश्री का वर्णन अनुभूतिहीन और बौद्धिक अधिक है। यह पन्तजी ने स्वयं भी स्वीकार किया है [आधुनिक कवि, भाग दो]। यहां मैं यह कह कर पन्तजी के काव्य की महत्ता पर कोई प्रहार नहीं कर रहा हूँ, वरन् यह दरसाने की चेष्टा कर रहा हूँ कि अनुभूतिमय चित्रो में और अनुभूतिहीन चित्रों में क्या अन्तर हमें दिखायी देता है। अतः रामविलासजी का काव्य अनुभूतिजन्य इसी अर्थ में है कि वे प्रकृति को जिस रूप में देखते हैं, उसी रूप में उसे अपने भाव में ग्रहण करते हैं, न कि अपने हृदय के स्वप्नों का आरोप प्रकृति पर करते हैं। छायावाद में यही मूल दोष था। रामविलासजी ने प्रकृति को अपने असली रूप में किस तरह ग्रहण किया है, इसके प्रमाण के लिए ये उदाहरण पर्याप्त होंगे—

'नीले रंग में डूब गया सारा नभमण्डल,
पूर्व दिशा में उठे घने दल के दल बादल।
लहराती पुरवाई के झोंकों पर आये,
धूलभरे लू से झुलसे खेतों पर छाये।
आमों की सुगंध से महक उठी पुरवाई!
पिउ पिउ के मृदुरव से गूँज उठी अमराई।

जग के दग्ध हृदय पर गह गह बादर बरसे।
डह डह अंकुर फूटे वसुधा के अन्तर से।'

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्षागम का चित्र हमारे सम्मुख तत्क्षण आ जाता है। दूसरा उदाहरण देखना हो तो इन्हीं पंक्तियों में आगे कवि कहता है—

'यह असाढ़ का पहला दिन ये काले बादल
लू से झुलसे हाड़ों को करते हैं शीतल।'

इन दो पंक्तियों मे ही पढ़नेवाला चित्र के भाव से अभिभूत हो जाता है। या फिर उस ग्रामश्री का अनुभव कीजिए जहाँ किसान झोंपड़ी पर लौट आया है—

'उजली कुंआर की धूप अकेली पड़ी हार मे
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।
पागुर करतीं छाँहीं मे, कुछ गभीर अधखुली आँखों से
बैठी गायें करतीं विचार!

× × ×

भर रहे मकाई ज्वार बाजरे के दाने
चुगतीं चिड़ियाँ पेड़ो पर बैठीं झूल झूल।
पीले कनेर के फूल सुनहले फूले पीले
लाल लाल झाड़ी कनेर की, लाल फूल!
बिकसी फूटे पकतीं कचेलियाँ बेलो मे
ढो ले आती ठंढी बयार सोंधी सुगन्ध!'

ग्रामप्रकृति की झलक देखते हुए कवि अपने अन्तस्तल मे पिछली स्मृतियों के बन्द द्वार खोलने मे सलग्न होकर उसको 'अपलक देखकर' भी उस 'छवि को निराकार' पाते हूए पुनः अपनी वर्त्तमान छवि पर लौट आता है जिसके आगे 'अनागत का अन्धकार' गरज रहा है।

कवि प्रकृति के चित्रो को उपस्थित करता हुआ प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाले वर्तमान भारतीय किसान की दयनीय दशा का वर्णन भी मर्मस्पर्शी ढंग से उपस्थित करता है। देखिए—

'धरती के पुत्र की
होगी कौन जाति, कौन मत, कहो कौन धर्म ?
धूलिभरा धरती का पुत्र है,
जोतता है बोता जो किसान इस धरती को
मिट्टी का पुतला है,
मिट्टी के चिर ससर्ग मे !'

किन्तु एकरस मटीलेपन मे—

'छिपी है विभिन्नता, विचित्रता, विषमता विश्व की !
रूढ़ियो की, नियमो की, अस्पष्ट विचारो की,
सदियो के पुरातन मृत सस्कारों की,
चिह्नित हैं प्रेतरूप छायाएं मटीले मुंह पर !'

उस किसान की कुसस्कृत भूमि पर असन्तोष के अति तिक्त बीज बो कर नये साल फागुन में क्रान्ति की फसल काटनी है ।

इस तरह ऊपर के काव्याश मे कवि ने किसान की दयनीयता को दरसाते हुए उसके जीवन को निश्चित रूप देने के लिए उसे जागृत-कर 'क्रान्तिपथेर गामी' बनने का सन्देश दिया है । दूसरा चित्र है आधुनिक मशीनयुग में रहने वाले भारतीय युवको का जो—

'ककाल,
हड्डियों के रक्तहीन मांसहीन ककाल ।
मांसल बलिष्ठ नहीं भुजाएं, रक्ताभा नहीं है कपोलों पर,
परतन्त्र देश के युवक हैं ।'

किन्तु—'युग के ये नरकंकाल
हड्डियो के ताप से अशान्त हैं ।
गालों की सूखी हुई हड्डियों में,
धँसी हुई आँखो की पुतलियों में
बसी है भावना विद्रोह की ।'

क्योंकि—

'जीते हैं हम नर ककाल

जलती है ज्वाला एक हड्डियों के ढाँचों में।'

और फिर—

'छिन्न-भिन्न कर देंगे काली छायाओं को
—निर्मोह युद्ध में,—
.....
मुक्ति देंगे जीवन को मृत्यु के पाश से।
जन्म होगा हड्डियों के ढाँचों से
रक्ताभ मांसल शरीर का।'

और साथ ही—

'जन्म होगा नरकंकालों से
सबल स्वतन्त्र नवयुवकों की सेना का।'

ऊपर दो प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं। प्रथम तो है प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाले भारतीय किसान का जो जागृतिहीन होकर रूढ़ियों और संस्कारों के बन्धनों में जकड़ा हुआ है, जिसमें आज कार्य करने की आवश्यकता है जिससे उसे सुगमता से क्रान्ति-पथ-गामी बनाया जा सके। इस तरह कवि ने किसान जीवन को एक विशाल 'कार्य-क्षेत्र' बताया है। दूसरा चित्र हमारे सामने आता है भारतीय तरुणों का, जो शरीर से नर-कंकाल हैं किन्तु आँखों में विद्रोह की भावना लहरा रही है, अन्तर में जीवन की ज्वाला जल रही है, इन दोनों की शक्ति से ये भारतीय तरुण दासता की काली मूर्तियों को मिटा देंगे। यह भावना हमारे मन में उपर्युक्त चित्र से उपस्थित होती है। कवि की सत्य के प्रति आस्था एवं अनुभूति की तीव्रता ने चित्र में निहित भावना को व्यापक रूप दे दिया है। वह इस अर्थ में कि हमारा युग संक्रान्तिकाल का युग है। हम गुलाम हैं मगर हम भारतीय तरुणों में मातृभक्ति से सिंचित गर्म लहू हुंकार रहा है—परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर। इसके साक्षी हैं हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनजिन में अनगिनत वीर जवान फाँसी पर झूल गये हैं। हमारे राजनीतिक आन्दोलन भारतीय समाजजीवन के प्रवाह हैं। राजनीतिक समस्याएँ और सामाजिक जीवन की समस्याएँ एक दूसरे की पूरक हैं। अतः कवि के लिए दोनों ही क्षेत्रों की

समस्याएँ समान हैं। हाँ, जहाँ कवि केवल राजनीतिक नारे देने लगता है वहाँ कविता प्रचार हो जाती है। यह ठीक है कि प्रचार भी एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए ही किया जाता है। किन्तु जो काव्य जीवन के व्यापक संग्रामस्थल को छूता हुआ रचा जायगा, वह उतना ही सच्चा काव्य होगा। रामविलासजी के काव्य की अनुभूति इस तौल पर खरी उतरती है। किन्तु कहीं-कहीं कुछ सोद्देश्य कविताएँ प्रचारात्मक हो गयी है, वहाँ राजनीतिक भावना ने व्यापक रूप धारण कर लिया है। उदाहरण के लिए 'गुरुदेव की पुण्यभूमि' की कविता का प्रारम्भ जिस ऊँचाई से हुआ है, वह आगे चलकर गद्य में कही जाने वाली पंक्तियों का प्रतिपादन करने लगती है यद्यपि कविता का ओज भव्य होकर मुर्दा दिलों पर असर करता है। बंगाल जैसी भुखमरी के समय की लिखित अन्य कविताओं में एक ओजस्विनी कविता हिन्दी में ठहरेगी। कुछ पंक्तियाँ निश्चय ही मर्मस्पर्शी हैं—

'यह शस्य श्यामला वसुन्धरा है, जिसे देखकर
कवि ने मन में स्वर्ग रचा था सुन्दर।
यह पुण्यभूमि है, जिसे देखकर
आन्दोलित हो उठता था कवि का भावाकुल अन्तर!
वे भरे धान के खेत यहीं थे, जिन्हें देखकर
साँझ सबेरे फूटे थे, कवि के स्वर।'

और इसी पुण्यभूमि से गुरुदेव ने सन्देश दिया था—

'अजर अमर है मानव जीवन।'
'क्षुद्र है मानव द्वारा, मानव का उत्पीड़न।'

किन्तु आज उसी महामहिम पुण्यभूमि पर भूख के क्रन्दन से अनगिनत मानव प्राण त्याग गये। कवि हुंकार उठता है और प्रश्न करता है कि—

'इस शस्य श्यामला वसुन्धरा पर
क्रूर प्रेत सी घिर आयी किस विभीषिका की छाया?
उस अजर अमर जीवन पर यह विनाश की छाया,
किसकी दारुण सर्वग्रासिनी माया?

इस पुण्यभूमि में तीस हज़ार युवतियों ने
क्यों वेश्यालय में जाकर आश्रय पाया ?'

और—

'पट गया अधजली लाशों से कविगुरु का प्रिय
यह हरा भरा नन्दन वन !'

वंगभूमि के उस समय के नारकीय जीवन में तड़पते हुए मानवों के प्रति सहानुभूति देकर, समाज और सरकार के प्रति कवि की वाणी का उग्र होना स्वाभाविक था। जबकि देश के एक विशाल क्षेत्र में आग लग रही थी, उस दशा में वहाँ व्याप रही भावना से कवि का अलग रहना नितान्त अस्वाभाविक था। समाजचेता प्रबुद्ध कवि के लिए तो और भी अधिक ! रामविलास जी ने वंगभूमि में व्याप रहे नारकीय जीवन की भावना का चित्रण ही नहीं किया है, अपितु देश के नौजवानों को उसकी सहायता के लिए ललकारा भी है। यह बताते हुए कि—

'जीवित है अब भी सामाजिक जीवन।
हड्डी हड्डी है चूर, जला सब खून
अडिग है फिर भी सूखे तन में इस्पाती मन !
दानव ने आज चुनौती दी है नवयुवकों को—
"आओ यह पहाड़ सा भार उठाओ" !'

इस भावना की व्यापकता और गहराई और कहीं अप्राप्य है। इसमें कवि ने बता दिया है कि कितना ही इस मानव-जीवन को दानवी शक्तियाँ तहस-नहस करने का प्रयत्न करें पर सूखे तन में इस्पाती मन कभी भी उसे छिन्न-भिन्न नहीं होने देगा। क्योंकि कविगुरु के शब्दों में मानव-जीवन सदा अमर रहता है।

इस तरह हम देखते हैं कि रामविलास जी का कवि ग्राम-सौन्दर्य की अनुभूति को ग्रहण करने के साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक भावनाओं को भी समान रूप में ग्रहण करने की क्षमता रखता है। विचारों में कवि पूर्णतया समाजवादी है, जीवन के सभी बन्धनों, रूढ़ियों और रीतियों को तोड़ फेंकने के लिए आकुल है।

और इसी तोड़ फेंकने की भावना को वह इस प्रकार व्यक्त करता है—

'बैठा है कौन किनारे पर
यह गरज रहा है जनसागर !
पीछे हटकर सिर धुन कर भी
आगे बढ़ती है लहर-लहर !
दुख के इस हहर हहर में भी
ऊँचा उठता है जय का स्वर !
सीमा के बन्धन तोड़ रही है
सागर की प्रत्येक लहर !'

'चाँदनी' कविता में इसी प्रकार की भावना का व्यक्तीकरण हुआ है। अतः हम देखते हैं कि कवि विचारों से स्पष्ट समाजवादी होते हुए भी अनुभूति की तीव्रता से अपनी कविता में पाठक के मन पर गम्भीर करुणा की अमिट छाप छोड़ जाता है। इसके लिए 'किसान कवि और उसका पुत्र' कविता उदाहरणार्थ रखी जा सकती है। वातावरण की शोकसंविग्न गम्भीरता अनुभूति की तीव्रता के कारण कविता की पृष्ठभूमि बनने के साथ साथ अन्त में एक उत्कट आशा का संचार भी करती है। देखिए—

'उमड़ रहा है अब अपार जीवन सरि-सर में।
फिर भी उल्कापात एक उस तरु पर केवल,
वन के सब वृक्षों में था जिसका मीठा फल।
छार छार हो गये पात सब वज्रपात से,
वह पंछी उड़ गया, हाय, उड़ गया हाथ से।
यह वर्षा की ऋतु, ढेलों में जीवन फूटा,
जिनमें वज्र हड्डियों का वह ढाँचा टूटा।
वर्षा की ऋतु,—डोली फिर वन में पुरवाई!
पुरवाई के साथ मृत्यु भी उड़ती आई!
बरस रहा है जब वन में खेतों में जीवन,
किसने किया इन्हीं खेतों में प्राणविसर्जन?'

तिस पर घनी रात के घोर अन्धकार के वातावरण ने करुणा को अपनी काष्ठा पर पहुँचा दिया है—

'प्रतिभा का वह फूल, किसी अज्ञात दिशा में
धूमकेतु सा खिला और छिप गया निशा में !
चन्द्रहीन हैं अमानिशा काजल सा तम है,
दुख का पारावार अकूल अथाह अगम है ।'

अपने साथी की मृत्यु पर कवि के हृदय में वेदनाओं की बिजलियाँ स्मृतियों के रूप में कौंध जाती है, फिर भी वह अपने को अपनी जिम्मेदारी के साथ ढाढ़स बँधाता है—जिस ढाढ़स के पीछे कवि का सामाजिक जीवन-दर्शन है—

'काल-रात्रि में चार प्रहर अविराम जागरण,
यही व्यथा का पुरस्कार है अति साधारण ।
बँध न सकेगा लघु सीमाओं में लघु जीवन ,
अडिग यही विश्वास, क्षुद्र है जीवन चंचल ।
+ + +
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है
भय से सिहर उठे वह तरुका पात नहीं है !'

यही सामाजिक जीवनदर्शन 'कवि' नामक कविता में प्रस्फुटित हुआ है, और वह 'कवि' निरालाजी हैं । 'कवि' की शैली भी निरालाजी की काव्य शैली से लेकर एक नवीन रूप में लेखक ने उपस्थित की है जिसमें जन-कल्याण के लिए लिखने वाले छायावादी कवि को जन-सत्ता की नगरी की ओर ले जाने का नम्र सन्देश है ।

इसके अलावा 'दाराशिकोह' कविता ऐतिहासिक वातावरण, ओजस्वी भाव और छन्द की नवीनता से संयुक्त है । प्रयोग की दृष्टि से यह कविता अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है । 'सत्यं शिवं सुन्दरं'* कविता का तो पूछना ही क्या ? शायद इस संकलन की सबसे अधिक लोकप्रिय कविता यही एक है जिसका आनन्द सुनने में अधिक और पढ़ने में कम है । इस कविता में ग़ाम

---

* हास्य रस की कविताएँ इस संग्रह में नहीं दी गईं ।

में मरने वाले शायरों का खासा मज़ाक उड़ाया गया है। 'प्रत्यूष के पूर्व' 'कतकी', 'सिलहार' कविताएँ ग्रामीण वातावरण को जीवन्तता के कारण अधिक प्रभावोत्पादक हो गयी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि कवि रामविलास जी की कविताएं न केवल राजनीतिक भावनाओं की ही अभिव्यंजना करती हैं, अपितु सामाजिक और राजनीतिक भावना को भी समान सन्तुलन से व्यक्त करती हैं। स्थानवैशिष्ट्य प्रत्येक कविता में प्रधान है। कृत्रिमता का आभास कतई नहीं हैं। यह रामविलास जी के काव्य की विशेषता है। वे जो अनुभव करते हैं, उसी को ईमानदारी से कलात्मक रूप से व्यक्त कर देते हैं—इस प्रकार कि जिससे उसमें भारतीय वैशिष्ट्य का भाव खण्डित न होने पाये। इस विशेषता के कारण मुझे रामविलासजी के काव्य पर कुछ कहने का उत्साह मिला। मैं अन्त में एक बार वैसबाड़े के इस 'निराला' टाइप कवि का अभिनन्दन करता हूँ जो अपनी कविता के प्रति Serious नहीं है मगर जिसकी कविता के प्रति सचेत पाठक अवश्य Serious हैं।

—रघुनाथ विनायक तावसे

विषय-सूची

क्रम		पृष्ठ
१	—कवि	१
२	—चाँदनी	४
३	—प्रत्यूष के पूर्व	५
४	—कतकी	६
५	—शारदीया	७
६	—सिलहार	८
७	—दिवा-स्वप्न	९
८	—किसान-कवि और उसका पुत्र	११
९	—समुद्र के किनारे	१४
१०	—कार्यक्षेत्र	१६
११	—हड्डियों का ताप	१७
१२	—विश्व-शान्ति	१९
१३	—कलियुग	२१
१४	—परिणति	२२
१५	—तूफ़ान के समय	२३
१६	—कलकत्ता	२४
१७	—दारा शुकोह	२५
१८	—गुरुदेव की पुण्यभूमि	२९
१९	—जल्लाद की मौत	३२
२०	—सन्तरण	३४
२१	—बेकार	३५

२२—वरदान ३६
२३—अज्ञान ३७
२४—अग्निशैया ३८
२५—दर्शन ३९
२६—नया गौरव ४०
२७—वर्तमान ४१
२८—अभिशाप ४२
२९—सार्थकता ४३
३०—चुनौती ४४
३१—पाषाण ४५
३२—आशा ४६
३३—विदा से पहले ४७
३४—पथहारा ४८
३५—पराजय ४९
३६—परिचय ५०
३७—सुखदुख ५१
३८—सृष्टि से पहले ५२
३९—उपहार ५३
४०—मूर्तियाँ ५४
४१—खजुराहो ५७
४२—कैमासन ६१
४३—कुहरे के बादल ६३
४४—यज्ञ प्रतिमा ६६
४५—ऋतु संहार ६७
४६—बैसवाड़ा ७०
४७—डलमऊ में गंगा ७२

४८—तीसरे पहर ७५
४९—पंजाब का हत्याकाण्ड ७७
५०—और भी ऊँचा उठे झण्डा हमारा ७९
५१—आज़ाद पताका ८३
५२—कृष्णा तट पर विजयवाड़ा ८५
५३—महाबलिपुरम् का समुद्र तट ८७
५४—पीरपञ्जाल ८८
५५—वंदिनी कोकिला ८९
५६—चिदम्बरम् ९०
५७—अर्चना ९१
५८—श्रेष्ठियों के देवता ९२
५९—मातृतीर्थ : तिरुच्चिरापल्ली ९४
६०—कश्मीरी कवि महजूर के स्वर्गवास पर ९६
६१—केरलः एक दृश्य ९७
६२—बाँदा में निराला-जन्म-दिवस समारोह ९९
६३—आगरे में इलिया एरेनबुर्ग १०१
६४—सॉनेट १०६
६५—विद्रोही १११
६६—अमर सरस्वती ११५

कवि

वह सहज विलंबित मंथर गति जिसको निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार;
काले लहराते बाल देव-सा तन विशाल,
आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल;
झंकृत करती थी जिसकी वाणी में अमोल,
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल;—
कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज,
संध्या की वेला शिथिल हो गये सभी साज।
अब वन्य जंतुओं का पथमें रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल।

अब कहाँ यत्र-से कवि-कुल-गुरु का ठाटबाट ?
अर्पित है कवि-चरणों में किसका राजपाट ?
उन स्वर्ण-खचित प्रासादों में किसका विलास ?
कविके अंतःपुर में किस श्यामा का निवास ?
पैरों में कठिन बिवाई, कटती नहीं डगर;
आँखों में आँसू, दुखसे खुलते नहीं अधर !
खो गया कहीं सूने नभ में वह अरुण राग,
धूसर संध्या में कवि उदास है वीतराग !
अब वन्य जंतुओं का पथ में रोदन कराल ।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल ।

अज्ञान-निशा का बीत चुका है अंधकार;
खिल उठा गगन में अरुण,—ज्योति का सहस्रार ।
किरणों ने नभ में जीवन के लिख दिये लेख;
गाते हैं वन के विहग ज्योति का गीत एक ।
फिर क्यों पथ में यह संध्या की छाया उदास ?
क्यों सहस्रार का मुरझाया नभ में प्रकाश ?
किरणों ने पहनाया था जिसको मुकुट एक,
माथे पर वहीं लिखे हैं दुख के अमिट लेख ।
अब वन्य जंतुओं का पथ में रोदन कराल ।
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल ।

इन वन्य जन्तुओं से मनुष्य फिर भी महान् ।
तू क्षुद्र मरण से जीवन को ही श्रेष्ठ मान ।
"रावण-महिमा-श्यामा-विभावरी-अन्धकार"—
छँट गया तीक्ष्ण बाणों से वह भी तम अपार ।

अब बीती बहुत रही थोड़ी, मत हो निराश,
छाया-सी सन्ध्या का यद्यपि धूसर प्रकाश।
उस वज्र-हृदय से फिर भी तू साहस बटोर;
कर दिये विफल जिसने प्रहार विधि के कठोर।
क्या कर लेगा मानव का यह रोदन कराल ?
रोने दे यदि रोते हैं वन-पथ में शृगाल।

कट गई डगर जीवन की, थोड़ी रही और।
इस वन में कुश-कंटक, सोने को नहीं ठौर।
क्षत चरण न विचलित हों, मुँह से निकले न आह;
थक कर मत गिर पड़ना ओ साथी बीच राह।
यह कहे न कोई—जीर्ण हो गया जब शरीर,
विचलित हो गया हृदय भी पीड़ा से अधीर।
पथ में उन अमिट रक्त-चिन्हों की रहे शान,
मर मिटने को आते हैं पीछे नौजवान।
इस वन में जहाँ अशुभ ये रोते हैं शृगाल,
निर्मित होगी जन-सत्ता की नगरी विशाल।

१९४३

चाँदनी

चाँदी की झीनी चादर-सी
फैली है वन पर चाँदनी।
चाँदीका झूठा पानी है
यह माह-पूस की चाँदनी।
खेतों पर ओसभरा कुहरा,
कुहरे पर भीगी चाँदनी;
आँखों में बादल-से आँसू,
हसती है उन पर चाँदनी।
दुख की दुनिया पर बुनती है
माया के सपने चाँदनी।
मीठी मुस्कान बिछाती है
भीगी पलकों पर चाँदनी।
लोहे की हथकड़ियों-सा दुख,
सपनों-सी झूठी चाँदनी;
लोहे-से दुख को काटे क्या
सपनों-सी मीठी च दनी।
यह चाँद चुरा कर लाया है
सूरज से अपनी चाँदनी।
सूरज निकला, अब चाँद कहाँ ?
छिप गई लाज से चाँदनी।
दुख और कर्म का यह जीवन,
वह चार दिनों की चाँदनी।
यह कर्म-सूर्य की ज्योति अमर,
वह अंधकार थी चाँदनी।

१९४३

प्रत्यूष के पूर्व

दूर छिपा है भोर अभी आकाश मे,
पश्चिम में धीरे धीरे पर डूबता
ठिठुरन से छोटा हो पीला चंद्रमा,
धुंधली है तुषार से भीगी चाँदनी।
सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
बरस रहा खेतों पर हिम हेमंत है,
हरी-भरी बालों के भारी बोझ से,
मूर्च्छित हो धरती पर झुकी मोराइयाँ।
बरगद के नीचे ही महफिल है जमी,
घुँघरू की छुम-छुम पर तबला ठनकता,
पेशवाज़ से सजी पतुरियाँ नाचतीं,
मीठी-मीठी सारंगी भी बज रही।
उड़ती गहरी गंध हवा में इत्र की,
उजले धुले वस्त्र पहने बैठे हुए,
दारू का चल रहा दौर पर दौर है।
कहते हैं, स्वामी जो थे इस भूमि के,
हत्यारों से वे अकाल मारे गये।
सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
बरगद से कुछ दूरी पर जो दीखता
ऊँचा-सा टीला, उस पर एकत्र हो,
ऊँचा मुँह कर देख डूबता चन्द्रमा
हुआ-हुआ करते सियार हैं बोलते।

कतकी

पिछला पहर रात का, पर आकाश में
छिटकी है अब भी चौदस की चाँदनी;
बिना वृक्ष-झाड़ी के, घेरे क्षितिज को,
ऊसर ही ऊसर कोसों फैला हुआ।
चला गया है उसे चीरता बीच से
गहरे कई खुड़ों का गलियारा बड़ा,
कतकी का ढर्रा, जिस पर हैं जा रही
घुँघरू की ध्वनि करती इस सुनसान में
पाँति बाँध कर धीरे-धीरे लादियाँ।
उड़ते पीछे उजले बादल धूल के।
तने हुए तंबू भीतर पैरा बिछा
सुखी बाल-बच्चे बैठे हैं ऊँघते,
गरम रजाई में निश्चिन्त किसान भी
बैठा बैलों की पगही ढीली किये।
घुँघरू की मीठी ध्वनि करते जा रहे
फटी-पुरानी झूलें ओढ़े बैल वे,
पहचानते लीक हैं, पहले भी गये।
स्वप्न देखते धीरे-धीरे जा रहे,
सकरघटी कर पार, जहाँ लहरा रही
सर्-सर् करती गंगा की धारा, वहाँ
रंग-बिरंगा कोलाहल करता बड़ा,
बालू पर मेला है एक जुड़ा हुआ।

१९३८

शारदीया

सोना ही सोना छाया आकाश में,
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ,
भरे ज्वार के भुट्टे पक कर झुक गये।
'गला-गला' कर हाँक रही गुफना लिए,
दाने चुगतो हुई गलरियों को खड़ी,
सोने से भी निखरा जिसका रंग है,
भरी जवानी जिसकी पक कर झुक गई।

१९३८

सिलहार

पूरी हुई कटाई अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर पूलों के लगे अरंभ है।
बिगही बरहे दीख पड़े अब खेत में,
छोटे-छोटे ठूँठ ठूँठ ही रह गये।
अभी दुपहरी में पर, जब आकाश को
चाँदी का सा पात किये है तप रहा,
छोटा-सा भूरज सिर पर बैसाख का,
काले धब्बों-से बिखरे वे खेत में
फटे अगोछों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते,
खेत कटाई की मजदूरी, इन्हीं ने
जोता बोया सींचा भी था खेत को।

१९३८

दिवा-स्वप्न

वर्षा से धुल कर निखर उठा नीला-नीला
फिर हरे-हरे खेतों पर छाया आसमान,
उजली कुँआर की धूप अकेली पड़ी हार में,
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।

पागुर करती छाँहीं में, कुछ गंभीर अधखुली आँखोंसे,
बैठी गायें करतीं विचार,
सूनेपन का मधु-गीत आम की डाली में,
गाती जातीं मिलकर ममाखियाँ लगातार।

भर रहे मकाई ज्वार बाजरे के दाने,
चुगतीं चिड़ियाँ पेड़ों पर बैठीं झूल-झूल,
पीले कनेर के फूल सुनहले फूले पीले,
लाल-लाल झाड़ो कनेर की, लाल फूल।

बिकसीं फूटें, पकती कचेलियाँ बेलों में,
ढो ले आती ठंढो बयार सोंधी सुगन्ध,
अंतस्तल में फिर पैठ खोलती मनोभवन के,
वर्ष-वर्ष से सुधि के भूले द्वार बन्द।

तब वर्षों के उस पार दीखता, खेल रहा वह,
खेल-खेल में मिटा चुका है जिसे काल,
बीते वर्षों का मैं, जिसको है ढँके हुए
गाढ़े वर्षों की छायाओं का तंतु-जाल।

देखतीं उसे तब अपलक आँखें, रह जातीं
देखती उसे ही आँखें धर एकान्त ध्यान,
भूले अतीत का स्वप्न जागता, मिट जाता
संकुचित एक पल-सा हो फीका वर्तमान।

देखतीं उसे ही, भर आतीं आँखें, फिर पलकें
झँप जातीं, खो जाती छवि वह निराकार,
मैं रह जाता फिर प्रतिदिन-सा, प्रतिदिन-सा ही
गरजता अनागत का अगाध फिर अन्धकार।

१९३८

किसान-कवि और उसका पुत्र

नीले रँग में डूब गया सारा नभ-मंडल,
पूर्व दिशा में उठे घने दल के दल बादल।
लहराती पुरवाई के झोंकों पर आये,
धूल भरे लू से झुलसे खेतों पर छाये।
आमों की सुगन्ध से महक उठी पुरवाई,
पिउ-पिउ के मृदु रव से गूंज उठी अमराई।
जग के दग्ध हृदय पर गह-गह बादर बरसे,
डह-डह अंकुर फूटे वसुधा के अन्तर से।
बह न जाय जीवन अपार सीमा से बाहर,
मेड़ बाँधता है किसान खेतों में जाकर।

यह असाढ़ का पहला दिन, ये काले बादल,
लू से झुलसे हाड़ों को करते हैं शीतल।
टपक रहा है टूटा घर, खटिया टूटी है,
एक यहाँ मनचाही सुख की लूट नहीं है।
भरे तराई-ताल नदी-नाले उतराये,
आता है सैलाब, गाँव जिसमें बह जाये।
दीवारों को फिर मिट्टी से छोप-छाप कर,
बचा सकेगा कौन भला ये टूटे खँडहर ?
हरे-हरे तरु-पात, जमे अंकुर ऊसर में,
उमड़ रहा है जल अपार जीवन सरि-सर में।
फिर भी उल्कापात एक उस तरु पर केवल,
वन के सब वृक्षों में था जिसका मीठा फल।
छार-छार हो गये पात सब वज्रपात से,
वह पंछी उड़ गया, हाय, उड़ गया हाथ से !

यह वर्षा की ऋतु, ढेलों में जीवन फूटा,
जिनमें वज्र हड्डियों का वह ढाँचा टूटा।
वर्षा की ऋतु,—डोली फिर वन में पुरवाई,
पुरवाई के साथ मृत्यु भी उड़ती आई।
बरस रहा है जब वन में खेतों में जीवन,
किसने किया इन्हीं खेतों में प्राण विसर्जन ?
किसकी मिट्टी पर यह खेतों की हरियाली ?
किसके लाल लहू की फागुन में यह लाली ?
ओ मेरे साथी ! मेरे जाने-पहचाने !
वज्र-हड्डियों से बन गये अन्न के दाने !

साथी अपनी छोड़ गया था एक निशानी,
साथी से ज्यादा है उसकी करुण कहानी।
वह सूने वन में आशा का फूल खिला था,
सूने वन को उस तरु का वरदान मिला था !
प्रतिभा का वह फूल, किसी अज्ञात दिशा में,
धूमकेतु-सा खिला और छिप गया निशा में।
चन्द्रहीन है अमा निशा, काजल-सा तम है।
दुख का पारावार अकूल अथाह अगम है।
अनजानी है राह, न साथी आज पास है।
एक नियति का पीछे कर्कश अट्टहास है।

यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।
रेत और पानी से बन जाते हैं पत्थर,
हृदय बना है आग और आँसू से मिल कर।

फिर भी सूनी धूप देख कर तरु-पातों पर,
कहीं बिलम जाता है मन बिसरी बातों पर।
कहीं हृदय के सौ इस्पाती बंधन टूटे;
कहीं व्यथा के स्रोत हृदय मे फिर से फूटे।
दुख का पारावार उमड़ आया आँखों में,
यह जीवन की हार नहीं छिपती आँखों में।

मेरी अंध निराशा का यह गीत नहीं है।
मन बहलाने को मोहक संगीत नहीं है।
जीवन को इस मरण-व्यथा को सहना होगा,
अंतर में यह व्यथा छिपाये रहना होगा।
काल-रात्रि में चार प्रहर अविराम जागरण,
यही व्यथा का पुरस्कार है अति साधारण!
बँध न सकेगा लघु सीमाओं में लघु जीवन;
लघु जीवन से अमर बनेगा बहु-जन जीवन!
अडिग यही विश्वास, क्षुद्र है जीवन चंचल;
अनजानी है राह, यही साहस है संबल।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।

१९३८

समुद्र के किनारे

सागर लम्बी साँसें भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर;
बूंदी-बादर में एक वही स्वर
गूंज रहा है हहर-हहर।
सागर की छाती से उठ कर
यह टकराती है कहाँ लहर ?
जिस ठौर हृदय में जलती है
वह याद तुम्हारी आठ पहर।
बस एक नखत ही चमक रहा है
अब भी काली लहरों पर,
जिसको न अभी तक ढँक पाये हैं
सावन के बूँदी-बादर।
यह जीवन यदि अपना होता
यदि वश होता अपने ऊपर,
यह दुखी हृदय भी भर आता
भूले दुख से जैसे सागर।
वह डूब गया चंचल तारा
जो चमक रहा था लहरों पर,
सावन के बूंदी-बादर में
अब एक वही स्वर हहर-हहर।
सागर की छाती से उठ कर
यह टकराती है कहाँ लहर ?
जिस ठौर नखत वह बुझ कर भी
जलता रहता है आठ पहर।

सागर लम्बी साँसें भरता है
सिर धुनती है लहर-लहर,
पर आगे बढ़ता है मानव
अपनेपन से ऊपर उठ कर।
आगे सागर का जल अथाह
ऊपर हैं नीर-भरे बादर,
बढ़ता है फिर भी जन समूह
जल की इस जड़ता के ऊपर।
बैठा है कौन किनारे पर,
यह गरज रहा है जन सागर?
पीछे हट कर सिर धुन कर भी
आगे बढ़ती है लहर-लहर।
दुख के इस हहर-हहर में भी
ऊंचा उठता है जय का स्वर;
सीमा के बंधन तोड़ रही है
सागर की प्रत्येक लहर।

१९४३

कार्यक्षेत्र

धरती के पुत्र की,
होगी कौन जाति, कौन मत, कहो कौन धर्म ?
धूलिभरा धरती का पुत्र है,
जोतता है बोता जो किसान इस धरती को,
मिट्टी का पुतला है,
मिट्टी के चिर संसर्ग में !
धरती के पुत्र के,
कितने ही मत और धर्म और जातियाँ हैं;
एकरस मटीलेपन में,
छिपी है विभिन्नता, विचित्रता, विषमता विश्व की !
रूढ़ियों की, नियमों की, अस्पष्ट विचारों की,
सदियों के पुरातन मृत संस्कारों की,
चिन्हित हैं प्रेतरूप छायाएं मटीले मुंह पर।
असंस्कृत भूमि ये किसान की,
धरती के पुत्र की,
जोतनी है गहरी दो चार बार, दस बार,
बोना महातिक्त वहाँ बीज असंतोष का,
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।

१९३८

हड्डियों का ताप

कंकाल,
हड्डियों के रक्तहीन मांसहीन कंकाल;
मांसल बलिष्ठ नहीं भुजाए, रक्ताभा नहीं है कपोलों पर,
परतन्त्र देश के युवक हैं !
कहाँ है जीवन ? कहाँ है चिरंतन आत्मा ?
हड्डियों का संघर्षण जीवन है,
हड्डियों में बसा हुआ ताप ही,
आत्मा है।
युग के ये नर-कंकाल,
हड्डियों के ताप से अशान्त हैं !
गालों की सूखी हुई हड्डियों में,
धँसी हुई आँखों की पुतलियों में,
बसी है भावना विद्रोह की।
बढ़ते हैं नर-कंकाल, नवयुवक,
खड़ी जहाँ सेना परतन्त्रता की, मृत्यु की,
भूख की, दुःसह अपमान अत्याचार की।
काली-काली भीम मूर्ति छायाएँ,
छायाएँ,
विजय नहीं पायेंगी,
जीवित हैं हम नर-कंकाल !
जलती है ज्वाला एक हड्डियों के ढाँचों में।
फैला कर लम्बी सूखी उँगलियों को,

छिन्न-भिन्न कर देंगे काली छायाओं को,
—निर्मोह युद्ध में,—
नर-मांसाहारी इन मृत्यु की वीभत्स छायाओं को।
मुक्ति देंगे जीवन को मृत्यु के पाश से;
जन्म होगा हड्डियों के ढाँचों से
रक्ताभ मांसल शरीर का,
हड्डियों में बसे हुए ताप से,
चिरतन आत्मा का
जन्म होगा नर-कंकालों से,
सबल स्वतन्त्र नवयुवकों की सेना का।

१९३८

विश्व-शान्ति

शिशर की साँझ यह,
छाई हरे खेतों पर, ठढी ओस लिये धूलि-भर
गलियारों पर.
लौट आये थके माँदे घर को सभी किसान।
नगर की गलियों में
काला-काला धुआँ छाया दबा हुआ ओस से।
लहू की बूँदों से
जलते हैं बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर,—लाल, लाल।
शिशिर की रात यह निश्चिंच,
निद्रित हों जन मानों दीर्घ कालरात्रि में।
कुहरे से मुर्दे हुए,
ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से,
उड़ चले पुष्पक-विमान पृथिवी की ओर!
करते हैं पुष्प-वृष्टि,
नष्ट करते हैं नर सृष्टि, कर अग्नि-वृष्टि
दुर्दम नृशंस आततायियों के ध्वंसकारी वायुयान!
हरे-हरे खेतों के,
काले-काले लोहे के कल-कारखानों के,
नीचे कहीं दबा था भूकंप एक चुपचाप।
तोड़ कर स्तब्धता सुदीर्घ कालरात्रि की,
फैल गया चीत्कार प्राणियों का वन में, नदी के तीर।
शिशिर की ओस-भरी ठंढी रात,
लाल हुआ लपटों से।

अग्नि विद्रोह की,
तोड़ कर क्षमाशील पृथिवी के वक्ष को,
सहस्रों शिखाओं में, उठी है गगन में, सुवर्ण
सिंहासन ओर ।
मज्जा और मांस से सने हुए मसान में
प्रज्ज्वलित चिता की लपटों में,
अविनश्वर लिखी है शांति संसार की ।

कलियुग

सतयुग, त्रेता, फिर द्वापर औ' कलियुग,
अन्तिम हमारा युग।
निंदित पुराणों मे, शास्त्रों में, काव्यों में,
अवांछित आदि युग से यह अधम युग।
सतयुग, त्रेता और द्वापर के कृमि-कीट
विकसित हुए जब बिषैले युग में,
महामान्य पूर्वजों, महर्षियों, सम्राटों की,
वासना की बूँदें वे,
बढ़ कर बनीं आज गंभीर जल-राशि,—
विषाक्त कर्दममय जल-राशि !
युग-युग निंदित अधम यह कलियुग,
यही है हमारा युग।
चेतना की किरणें सिमट कर एक साथ,
छिन्न करने को जड़ जल-स्तर, सक्रिय सचेष्ट हैं,
नष्ट करने को सतयुग ही के पुरातन कृमि-कीट।
विशाल सक्रियता,
यही है हमारा युग।
विषाक्त जलधि के हृदय में,
फूट कर धीरे-धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह,
खिलेगा जो एक दिन काले जल-तल पर,
नव अरुणाभा में,—नव सतयुग के प्रकाश में।

१९३८

परिणति

दुख की प्रत्येक अनुभूति में,
बोध करता हूँ कहीं आत्मा है
मूल से सिहरती प्रगाढ़ अनुभूति में।
आत्मा की ज्योति में,
शून्य है न जाने कहाँ छिपा हुआ।
गहन से गहनतर,
दुख की सतत अनुभूति में,
बोध करता हूँ एक महत्तर आत्मा है,
निबिड़ता शून्य की विकास पाती उसी भाँति,—
सक्रिय अनन्त जल-राशि से
कटते हों कूल ज्यों समुद्र के।
एक दिन गहनतम इसी अनुभूति में
महत्तम आत्मा की ज्योति क्या
विकसित पायेगी चिर परिणति महाशून्य में ?

१९३२

तूफ़ान के समय

क्षितिज से उठकर,
विषैले बादलों में सनसनाता आता है तूफ़ान;
झुलसती कोटरों मे चिड़ियाँ, टहनियाँ पेड़ों की।
झुका लूँगा शीश तब,
उड़ाये झुलसायेगा जब तूफान यह रूखे-सूखे बालों को।
शीश पर सह लूँगा
वेग सब प्रकृति के विकृत तूफ़ान का।
कड़कती उल्का आकाश मे
विचलित करती है मानव में अन्तर्हित ज्योति को।
बढ़ूँगा आगे और
शान्त होगा जब विष-वातावरण,
अथवा यों शीश झुका,
खड़ा हुआ अचल, एकांत स्थलपर,
देखूँगा भस्मसात् होती है कैसे वह अन्तर्ज्योति,
पाता है जय कैसे,
मानव पर यह विकृत प्रकृति का तूफान।

१९३८

कलकत्ता

दक्षिणी समुद्र से,
दक्षिणी हवा के खुले पंखों पर,
उजले धुले बादल, बहे जाते
अजस्र धारा में, चाँदनी रात में,
उत्तर में हिमाच्छादित, दूर, हिमालय की ओर।
मूर्च्छित है निद्रा में
विशाल नगर, नीचे, छिपाए भूगर्भ में
नाले मल-मूत्र के।
सैकड़ों ही साँसों की उड़ती विषाक्त वायु
ऊँची ऊँची बाड़ियों से;
वेश्यालय शान्त हैं;
रक्त-मांसहीन पीले-पीले आकार डूबे
मदिरा की गंध मे
निश्चेतन निद्रा में।
अनिद्रित निद्रा में जागता जो मन वही जागता है चिरकाल।
बहे जाते उजले धुले बादल
अजस्र धारा में,
उत्तर की ओर, उस ओर, जहाँ चाँदनी मे,
देखता है अव्यक्त स्वप्न मौन,
विशाल तुषारपुंज समाधिस्थ हिमालय—
बहे जाते दक्षिणी हवा के खुले पंखों पर...
जाती हों लघु आत्माएं मानो
पुंजीकृत आत्मा परमात्मा भगवान को।
१९३७

दारा शुकोह

दिल्ली में उमड़ आया क्षुब्ध जन-पारावार,
राहुग्रस्त चन्द्र को भी देख कर उठा ज्वार;
दीन मदहीन एक हाथी पर राज्यहीन,
शाहंशाह भारत का दारा शुको' था सवार।

छत्रहीन शीश पर आग-सा दुसह घाम;
पीठ पर मौत-सा औरंगज़ेब का गुलाम;
चारों ओर त्रस्त जन-पारावार निस्सहाय,—
रुद्ध जनकंठ में था अस्फुट-सा रामनाम।

तीर लिये, तेग लिये, हाथ में लिये कमान,
सैनिक थे शासक थे,—हिंदू और मुसल्मान;
लोहे के से पींजरे में फारस की बुलबुल-सा,
दारा वहाँ बैठा था अनाथ शिशु के समान!

मस्तक मुकुटहीन, हाथ मणिबन्धहीन,
कंठ में पराजय का हार एक द्युतिहीन;
पाँव में जंजीर और बन्दी पिता शाहजहाँ,
सम्राट् औरंगजेब,—दारा ऐसा भाग्यहीन!

टूटा कुफ्र दारा का, अजेय रहा मुसल्मान।
विजय के साथ एक बाँदी मिली रूपवान।
भारतके, बाबरके, तख्त पर, भाइयों के
रक्तसे लिखी गई औरंगजेब की कुरान।

सोने का-सा देश वह गोलकुंडा, जहाँ शाह
शाहों का,—कुबेर-सा,—था शासक कुतुबशाह,
सोना वहाँ देवता था, काफिरों का कुतुब काः
आया वहाँ गाजी, किया गोलकुंडा को तबाह।

धर्मरत दारा, प्रिय पिता, पुत्र शीलवान,
भारत के साधु और सूफियों में ज्ञानवान
सेवक ही बना रहा;—रोगी पिता शाहजहाँ;
दक्षिणसे जब चढ़ा आता था मुसलमान।

समूगढ़ ! भारत-सौभाग्य का कराल काल,—
राजा रामसिंह और हाड़ापति छत्रसाल
खेत रहे, जहाँ एक बागी खलीउल्ला ने
दारा का नमक देशद्रोह से किया हलाल।

"धन्य हिन्दू ! स्वर्ग में भी पाये पिता जलदान !
प्यासा रहे मुसलमान शाहशाह बेजुबान !"
आगरे में बोला बंदी प्यासा पिता शाहजहाँ,
"धन्य हो सपूत ! तुम्हीं पैदा हुए मुसल्मान !"

आगरा, लाहौर और सखर से सेहवान,
दारा और नादिरा ने छान डाले बियाबान;
कहा अंत समय प्रिय पति से ये नादिरा ने,
"प्यारे ! मुझे मिले पाक वही खाके हिन्दुस्तान !"

दारा जैसे मित्रसे भी घात और दुर्व्यवहार,
मलिक के जीवन को लानत हजार बार।
कैद हुआ दारा, उसे ले चला बहादुर खाँ,
सोती रही नादिरा, न टूटा ख्वाब एक बार।

और अब दिल्ली में अनाथ दारा, राज्यहीन,
बैठने को धूलिभरा हाथी मिला दीन-हीन ;
चारों ओर सैनिक हैं तेग लिये तीर लिये,
बीच में है त्रस्त बलि-पशु दारा भाग्यहीन !

रोते थे गरीब, दारा बैठा था झुकाए माथ,
बोला यों भिखारी एक,—"आज हो गये अनाथ !
दाता ! दोनों हाथसे लुटाते थे भिखारियों को,
आज हो क्या एक बार चला जाऊँ खाली हाथ ?"

बैठा रहा दारा वहीं नीचे को झुकाये माथ,
ऊपर की ओर बिना देखे ही उठाया हाथ,
आखिरी निशानी एक चादर थी नादिरा की,
फेंक दी अनाथ ने; भिखारी को किया सनाथ ।

व्यर्थ है पुकार और व्यर्थ हैं ये कुहराम,
खुदा को पुकारना है व्यर्थ लेना राम-नाम;
घूमती है लाश अभी नगर मे चारों ओर
किन्तु इतिहास में है दारा का अमर नाम ।

शान्त हुई दिल्ली और शान्त जन-पारावार;
दक्षिण में किन्तु उठा झंझावत दुर्निवार;
धूलिसे दिशाएँ ढकीं, धूलिभरा आसमान;
दिल्ली पर छा गया प्रलय जैसा अन्धकार ।

काँप उठा सिंहासन, काँप उठा शाहंशाह,
फूट पड़ा ज्वालामुखी जहाँ उसे मिली राह !
काँप उठी भाइयों के रक्त मे रँगी कटार,
जागी प्रतिहिंसा और शासन की नयी चाह !

उत्तर से उठी घटा, काल हुआ आसमान ।
दासीपुत्र बना राजद्रोही पिता के समान ।
टूटे चूर शासन के; दारा का रुधिर लिए
प्रेत-सा जगाता रहा "गाजी" दिल्ली का मसान ।

१९४३

गुरुदेव की पुण्यभूमि

यह शस्य श्यामला वसुंधरा है, जिसे देखकर
कवि ने मन में स्वर्ग रचा था सुन्दर।
यह पुण्यभूमि है, जिसे देखकर
आन्दोलित हो उठता था कवि का भावाकुल अंतर।
वे भरे धान के खेत यहीं थे, जिन्हें देखकर
साँझ सबेरे, फूटे थे कवि के स्वर।

इस बंग-भूमि से ही जग को संदेश दिया था
कवि ने,—"अजर अमर है मानव-जीवन!"
इस बंग-भमि से कवि ने घोषित किया—
"क्षुद्र है मानव द्वारा मानव का उत्पीड़न।"
बर्बर फासिस्तवाद को यहीं चुनौती दी;
साम्राज्यवाद से युद्ध किया आजीवन!

इस शस्य-श्यामला वसुन्धरा पर
क्रूर प्रेत-सी घिर आई किस विभीषिका की छाया;
उस अजर अमर जीवन पर यह विनाश की छाया,
किसकी दारुण सर्वग्रासिनी माया;
इस पुण्यभमि में तीस हजार युवतियों ने
क्यों वेश्यालय में जाकर आश्रय पाया?

उन भरे धान के खेतों में दिनरात भूख,
बस भूख महामारी का आकुल क्रन्दन !
हड्डी-हड्डी में सुलग रही है आग भूख की;
सुलग रहा है भीतर-भीतर रक्तहीन मानव-तन;
पट गया अधजली लाशों से कविगुरु का प्रिय
यह हरा-भरा नन्दन वन !

भाई भाई से जुदा, चितापर लड़ते हैं
भाई-भाई, दो भीरु श्वान-से कायर !
लाखों की रकमें काट रहे हैं, काट रहे हैं
गले करोड़ों के, छिप छिपकर कायर !
सिर पर सरकार मौत-सी बेदम बैठी है,
चुपचाप मौत-सी पस्त निकम्मी कायर !

यह पुण्यभूमि है मानवता के कविगुरु की,
प्राचीन तपोवन-सी ही सुन्दर, पावन !
बलिदान त्याग की भूमि,—
अभी निःस्वार्थ युवक हैं, जीवित है अब भी
सामाजिक जीवन ।
हड्डी-हड्डी है चूर, जला सब खून;
अडिग है फिर भी सूखे तन में इस्पाती मन !

दानव ने आज चुनौती दी है नवयुवकों को,
"आओ, यह पहाड़-सा भार उठाओ !
दुर्भिक्ष महामारी से, दुष्ट लुटेरों से,
आओ यह अपना प्यारा देश बचाओ ।"
ऐ नौजवान भारत के !
गरम लहू को आज चुनौती है, सब मिलकर भार उठाओ !

दिन-रात यही हैरानी, भूली भूख-प्यास,—
वीरान न हो यह प्यारा शान्तिनिकेतन !
यह हरा-भरा बंगाल !
न योंही उजड़ जाय इस भूख महामारी से शान्तिनिकेतन !
उस नीच नगूची को न मिले यह रवि ठाकुर का,
प्राणों से भी प्यारा शान्तिनिकेतन ।

बंगाल, कसौटी देशभक्ति की,
आज यहां पर केन्द्रित है सारे भारत का जीवन ।
बंगाल देश का सिंहद्वार !
प्रहरी है केवल मृत्यु, और जनता करती है अनशन !
बंगाल चिता पर जलता है !
क्या बचा रहेगा देश ? बचेगा किस स्वार्थी का जीवन ?

१९४३

जल्लाद की मौत

(एक सोवियत चित्र पर)

जलता था जब रूसी घर,
जलते थे खलिहान-खेत जब
मिलें और टूटे छप्पर,
बढ़ता था जब टिड्डी-दल,
नाज़ी हत्यारों का दल,—
"फिर आयेंगे"—
कहता था तब लाल सिपाही;
"ओ हत्यारो ! फिर आयेंगे ।"
मन मसोसकर कहता था यह लाल सिपाही,
बढ़ता था जब टिड्डी-दल,
जलता था जब रूसी घर ।

रूसी बच्चों के हत्यारो,
ओ किसान-मजदूर औरतों को बेइज्जत करने वालो,
लाल सिपाही फिर आता है,
वही कौल पूरा करने को ।
सोचा था जिस क्रूर हृदयने
लूट और व्यभिचार और हत्या का हम त्योहार मनायें,
उसी हृदय में आज लाल संगीन चुभेगी,
निकलेगी तेरे उस क्रूर हृदय से बाहर,
निर्दयता, बर्बरता, तेरा हत्यारापन,
लाल रक्त की धारा बन कर ।

देख, लौट आया है तेरा काल
रूसका लाल सिपाही !
ओ जल्लाद ! कहाँ है अब तेरा साथी टिड्डी-दल ?
तू होगा बर्बाद
जहाँ कल छोड़ गया था तू जलते मज़दूरों के घर ।

जलता था जो कल रूसी घर,
वहीं बनेगा एक नया घर,
पहले से भी मनहर-सुन्दर ।
लेकिन आज,
गिरेगा तुझ पर बनकर गाज,
रूसी इनक़लाब का घन,
रूसी मज़दूरों का घन,
स्तालिन का फौलादी घन ।
जलता था कल रूसी घर,
आज वहाँ पर जलता है फासिस्त और नाज़ी बर्बर !
एक नया घर वहीं बनेगा
पहले से भी बड़ा और उससे सुन्दर !

१९४३

सन्तरण

हमें तो जाना है उस पार।

जलधि में उठा हुआ तूफ़ान,
प्रबल मारुत करता फूत्कार;
तना है नभ में मेघ-वितान,
चमकती चपला बारंबार।
कौन फिर जायेगा उस पार?
हमें तो जाना है उस पार।

जान कर होते हो अनजान,
साहसी तरी तुम्हारी जीर्ण;
तरंगें सागर की बलवान,
करेंगी क्षण में उसका चूर्ण।
नहीं जा सकते हो उस पार।
हमें तो जाना है उस पार।

नित्य ही खेल मृत्यु के संग
खेलना एक हमारा काम;
तड़ित् झंझा से प्रबल उमंग
हृदय में उठती है अविराम।
हाथ में लो माझी पतवार।
हमें तो जाना है उस पार।

१९३२

बेकार

कौन थका सा, तजकर पथ, तरुतल करता विश्राम ?
मध्य दिवस की वेला, फैला अग्नि-शिखा सा घाम।
नहीं सुलभ इसको कोई भी अपना शान्ति-स्थान ?
इस विशाल कोलाहलमय नगरी में एक अजान,
शून्य नयनों से रहा निहार
चपल जनपद को बारंबार,
अभागा भारतीय बेकार !

जनसमूह बढ़ता जाता अविराम बिना पहचान।
मौन उठाये शीश खड़े पाषाण-सौध नादान।
भेद गगनतल उठती धर्म-कर्म की वज्र पुकार।
आन्दोलन कितने आन्दोलित कर जाते संसार !
एक से सब उसको व्यापर,
शिशिर निष्ठुर क्या सरस बहार।
अभागा भारतीय बेकार !

१९३५

वरदान

घेर लें आकाश
स्वार्थ के घन जब क्षितिज से उमड़ कर;
तीव्र-गति वातास
वहन कर डोले निखिल अघ तम कलुष;
भूल पथ असहाय
दुःखभय तापित विषम भव सिन्धु में,
व्यर्थ सकल उपाय,
त्रस्त जब काँपे सभय जीवनतरी;
छिन्न कर घनजाल,
जननि, दिखलाना सजल लोचन युगल उस काल।
छिन्न कर घनजाल।

वारि राशि अपार,
पार कर कितने अथक निशि दिवस में,
शून्य वह संसार
जब मिलेगा चिर अपेक्षित श्रान्तिस्थल,
स्वच्छ दिवा प्रकाश
दीप्त करता है न जिस संसार को,
निविड़ नैशाकाश
स्तब्ध रहता चन्द्र उडुगण के बिना,
सजल वह चितवन किरण
फिर सजायेगी जननि, उस रजनि में नव जागरण!
सजल वह चितवन किरण!

१९३६

अज्ञान

पग पग पर यह अज्ञान भार,
बैठा पलकों पर नयन ज्योति
धूमिल कर देता अन्धकार।

ज्यों ज्यों भुजंगमन उन्नत-फन,
त्यों त्यों ऊपर से वज्र-गहन
चापता मलिन आकाश, सिहर
जर्जर रह जाता हार हार।

छिन्न कर कठिन यह तिमिर जाल
आशा केवल जो किसी काल,
बरसेगी दृग मन प्राणों पर
अप्रतिहत ज्ञानालोकधार।

१९३५

अग्निशैया

जलने दे यह तन मन प्राण,
जलती जीवन की होली मे
जीर्ण पुरातन काष्ठ समान।

बरसें सघन गगन से जलधर
घृत सम दुख के झरझर निर्झर,
रँग दें थर-थर नग्न दिशाएँ
ज्वालाएँ बढ़ बिना प्रमाण।

जले वासना कलुषित मन की,
क्षुद्र भावना सुख - साधन की!
विन्दु-विन्दु हो तेरे तप्त रुधिर की
ज्वालामुखी महान्।

होगा यदि कुछ पास सत्यबल,
तो जलने पर सकल अमंगल,
निश्चय तप्त स्वर्ण से नव कवि के
वपु का होगा निर्माण।

१९३५

दर्शन

दृढ़ अभी पुरातन वे बन्धन;
कवि, दूर तुम्हारा युग-प्रभात।
रवि-किरणों में देखा तुमने
पृथ्वी अम्बर तरुलता स्नात।
देखा न देश-दुख दैन्यभार,
यह अर्द्ध अमा का अन्धकार।

१९३६

नया गौरव

विगत उस गौरव का क्या मूल्य
गिरे गिरि से धरणी की ओर ?
उठे फिर देखो ये श्रमशील
अगम पथ का पाने को छोर।
हमारा अप्रतिहत उत्थान,
यही है नव गौरव का ज्ञान।

१९३६

वर्तमान

गतकाल निशा उर में अनादि
अटका अब्दों का एक छोर;
अन्त भी अनागत में जिसका
दीखता सुदूर न अन्य ओर,—
जो साद्यन्त करता उसमें
विद्युद्धाराएँ प्रवहमान,
वह ज्ञानपुञ्ज, वह शक्तिकेन्द्र
कवि-कर्मभूमि वह वर्तमान।

१९३६

अभिशाप

विशाल अवनि अम्बर के बीच
कठिन जग लौह शृङ्खलाजाल,
चूर्ण कर नर पंजर के ग्रास,
लेहता तप्त रुधिर जो काल;
सफल उर में जब मुष्टि-प्रहार
सशक्त करूँगा वज्र समान,
अहे लघु जीवन के अभिशाप,
तुझे मानूँगा तब वरदान।

१९३६

सार्थकता

खिलता गुलाब सा जीवन का यदि फूल,
वृन्त पर, पार कर पथ के दुर्दम शूल;
पीता प्रभात-हिमकण औ' अरुण प्रकाश,
भर जाती प्राणों में समीर उल्लास;

भीनी सुगन्ध से सुरभित कर जग-उपवन,
भर जाता वह धरणी पर सार्थक जीवन।
बिंध गये किन्तु उर मे मग में ही शूल,
वृन्त पर कभी न खिला जीवन का फूल;
पीने को कहाँ शिशिरकण, अरुण प्रकाश,
केवल नयनों का जल, निज दुख-निश्वास।
वह दुखी स्वयं क्या दुख से भर जग-उपवन
गिर जायेगा धरणी पर असफल-जीवन ?

१९३५

चुनौती

सहन करते शीत या आतप पवन
काटते घनघोर पावस-यामिनी,
पार करते सरि सघन गिरि वन गहन,
कंटकित मग में किसी दुख की घड़ी,
श्रान्ति से जर्जर सकल यदि अंग हों,
कंठगत हों प्राण, आशास्वप्न भी सब भंग हों;

लुब्ध तो भी आह मत करना कभी
विवश हो, निज अन्तहीन विलोक पथ,
उमड़ कर सहसा दृगों से जो कहीं
गिर पड़े दो चार आँसू भूमि पर,
हँस उठेगा ईश लख वह दुर्दशा,
गगन में, नत शीश मानवजाति का होगा तथा।

१९३५

पाषाण

विश्व उर पर बैठती साभार जब दुख यामिनी
फूट तब मानव हृदय से एक कातर रागिनी,
हे निखिल आधार,
ऊर्ध्व उठती वाष्प सी तव नाम की चीत्कार !
हे निखिल आधार ।

कौन जाने तव दया के विपुल पारावार में
एक भी लघु कंप उठता दूर उस संसार में ।
किन्तु ये पाषाण
गगन के नक्षत्र हँस उठते सभी सुख मान ।
आह ये पाषाण !

१९३५

आशा

त्रस्त सभी हों दुष्ट, क्रूरता दूर हो।
साम्य समत्व असीम विषमता दूर हो।
कायरता हो दूर, दासता दूर हो।
दुखी सुखी हों सभी, देश भरपूर हो।

१९२९

विदा से पहले

पीछे फिर देखो एक बार।
पथ पर पग रखने से पहले
पीछे फिर देखो एक बार।

प्राची में सोती है ऊषा,
सोता है खग कलरव प्यारा।
सोता सर में सरसिज समूह,
सो रहा अभी तो जग सारा।
फिर चले अभी से क्या विचार ?

परदेश तुम्हारा पथिक दूर,
पहुँचोगे चलकर पथ अपार।
लौटोगे कब यह कहे कौन ?
भर बाहों में फिर करो प्यार।
किसकी बहती है अश्रु धार ?
पीछे फिर देखो एक बार।

अस्थिर हैं जग के जीवजन्तु,
अस्थिर है जग सब सारहीन।
रहता फिर मानव यहाँ कौन,
यदि होता यह जग प्रेमहीन ?
निज प्रेमपुष्प को हे उदार,
पीछे फिर देखो एक बार।

१९३१

पथहारा

वह खोल जलद के रजत पाल,
तिरती अगाध नभ नील सिन्धु
बाँकी एकाकी चन्द्रबाल।

बहती अबाध सुख से मंथर
वह मदिर समीर तरंगों पर;
जाने किस आशा से निर्भय
दी महाशून्य में तरी डाल।

जगका मारा यदि पथ हारा,
होता मैं ही उसका प्यारा,
सीमा पर तो खोलता व्यथित
स्वागत को निज बाहें विशाल।

१९३५

पराजय

रुद्ध थे सकल देहरी-द्वार,
कहीं से पाकर क्षुद्र प्रवेश,
किया किसने गृह पर अधिकार,
अजाने बन बैठा सर्वेश ?
ध्वजा उड़ती देखी जब हाय,
प्रेम तू था जाना निरुपाय ।

१९३६
४

परिचय

प्रेम का प्रथम अपरिचित स्वाद
कहीं जिसमें न गरल का लेश,
और जो नहीं छोड़ता दाग़
कालिमा का भी तन पर शेष,
पुण्य-जड़िमा यह दूर उतार
रूप को देगा और निखार।

१९३६

सुखदुख

पीड़ा को उसकी प्रकृति भूल
दुख को भी सुख सा मधुर मान,
मैं हृदय लगाता बारबार,
तेरा कोई उपहार जान।

१९३६

सृष्टि से पहले

छिपाये जग के प्राण
उदर में, सोता था आकाश;
उसी में था लयमान
सृष्टि का भावी चरम विकास।
प्रिये, तब अपना प्यार
छिपा था उसमें कहीं अजान,
लिये अपना संसार
कहीं सोते थे मेरे गान।

१९३६

उपहार

प्राणों से फूट निकलते प्रणयोच्छ्वास में,
या मान भरे उस क्षणिक हास परिहास में,
हे स्नेहमूर्ति नयनों से जो तेरे झरे
चुन लिये उसी क्षण मैंने भाव-प्रसून वे।
इस निर्जनता में एकएक ले मोह भर,
गूँथी माला निज छन्द-सूत्र में पोह कर।
अकलुष अमन्द-सौरभ वह श्रीवरहार सम,
सोहे अमलिन तेरे उर पर उपहार मम।

१९३५

मूर्तियाँ

डूबा दिन, फीका आसमान;
ठंडा सा धुँधला सूनसान
छाया है नीचे खेतों पर
औ' दूर जहाँ टूटे खँडहर
चुपचाप खड़े; झिल्ली झींगुर
सोये है सब धरती के सुर।
इस सूनेपन में मँडराती
मीठे कुछ कण्ठों से आती
गाने की ध्वनि; मिलकर गाती
कन्याएं इस बेला जाती,
देवी के मन्दिर फूलभरे,
धोये झिलमिल जलपात्र धरे
दायीं हथेलियों के ऊपर;
आँखों की पलकें नीची कर,
मेड़ों पर पाँति बाँध गातीं,
इस बेला वे मन्दिर जातीं।

मीठे स्वर में क्या रही माँग
देवी से? सेंदुरभरी माँग,
चूड़ियों से सदा भरे हाथ,
माँगे भाई तो पाँच-सात
पर बहन एक, देवर अनेक,
पति के घर में फिर ननद एक।

उठती गिरती गीत की लहर,
सब एक रहनि के कोमल स्वर।

खेतों के जो उस पार वहाँ
कैथे का ऊँचा पेड़, जहाँ
पीले कनेर फूले तमाम,
मन्दिर वह, सह बरसात-घाम,
बेरंग हुआ जो, अभी द्वार
दृढ़ जिसका है महराबदार।
सेंदुर से चोला रँगे धीर
ले गदा हाथ में महावीर
हैं खड़े पीठ पर; चक्र मोर
आँके हैं भीतर, उसी ठौर
फूलों - पत्तों के ढेर बीच,
अच्छत-भभूत की जहाँ कीच,
शोभतीं मूर्तियाँ पाँच-सात,
मोटे तन, मोटे पाँव-हाथ,
धुल-धुल कर अङ्ग हुए समान,
धुँधली सी भौंहें, नाक, कान।

जाने कब के वे कलाकार,
गढ़ गये प्रथम ही निराकार
कविता को दे यह रूप-नाम!
जाने कितने मिल गये ग्राम
धूलि में, इन्हीं को साँझ-भोर
पूजते, नहीं कुछ ओर-छोर,
कितने दुखिया, कितने उदास,

देवी में जिनकी बँधी आस,
कर गये यहाँ विनती अनाथ।
आये कितने वरबधू साथ,
करने प्रदक्षिणा, गृह - प्रवेश
करने से पहले, नहीं शेष,
कितनी कुमारियाँ गा गाकर
हैं माँग गईं निज सुन्दर वर!

डूबा दिन, फीका आसमान,
धुँधला सा ठंढा सूनसान!
मीठे कुछ कण्ठों से आती
गाने की ध्वनि, फिर मँडराती
इस सूनेपन में मिल जाती।

१९३६

खजुराहो

साथ साथ आई थी
ऊँची सी एक पहाड़ी,
मिट्टी-पत्थर लेकर जैसे पृथ्वी पर
हो थोप दी गयी बड़े-बड़े हाथों से।
दबे हुए, नाटे पत्थर के मन्दिर,
गठे हुए, काले, सब सूने;
ऊँची हैं सीढ़ियाँ; रखे है सिर पर
छोटे से चौकोर द्वार, तह पर तह
पत्थर की बड़ी शिलाएँ।

बिखरे फूल चमेली के, आई सुगन्ध,
महक उठी ठंढी बयार।
उड़ती आईं छायाएँ, तन-उत्तरीय
उड़ते, पाद-पीठिका पर मेला लगा
छायाओं का, रक्त चरण सब दीखते।
कठिनाई से ऐंठ निकल पाता कहीं,
धुआँ अगरु का द्वार से!
पलकों के नीचे विकार, आँखें सराग,
लाल सूक्ष्म है डोरे;
काञ्ची-बन्धन शिथिल, शिथिल है केशपाश।
उत्सुक प्रिय जनके मन;
बाहु बढ़ाये चाटुकार
माँग रहे हैं दान अनूठे प्रणय के!
शिवलिङ्ग विशाल रहस्य सृजन का, पूजते

नर-नारी नतर्शाश कुमारी औ कुमार ।
जल उठी आरती,
गहरी गंध अगरु की,
निःशब्द उठा है एक राग ।
मुखर हुए हैं अधर,
मौन छायाएँ मिलकर नाचतीं ।
शङ्ख और नूपुर बजते, निस्पन्द ।
सरक शीश से गिर-गिर जाते पट्टवास,
सुन्दर दिखते निरावरण
छायानन ।
अभिभूत हुए प्रिय के मन ।
छाया सब पर अंधकार ।

बना दिया है स्वप्न सत्य को काल ने ।
आँखों में भर चकाचौंध,
चाँदी बरसाता निकला सूरज,
उठा ले गया ऊपर,
खेतों पर छाया घना भोर का कुहरा ।
बजरी-पत्थर के दरबे,
टूटी खपरैलों से छाये,
गोबर-करकट की गंध उड़ाते,—
यही है खजुराहो ।
देवगृह का वह प्रस्तर-खण्ड,
हुआ खण्डित है जिसका शिल्प,
सजाता नाबदान ।
टेढ़े-मेढ़े, काले दुबले कङ्काल,

उगते है विन्ध्याचल पर जैसे पेड़,
हैं चेल और चन्देल यहीं बुन्देले।
देख सिपाही हाथों में लेतीं उतार
जूते, घूँघट करतीं गँवार,
खजुराहो की नागरिकाएँ,
कलाकारों की ये हैं—
नायिकाएँ।

खजुराहो के हरे-भरे सब खेत है;
तैर रहे कुछ दूरी पर दो
चकवा-चकई ताल मे।
मन्दिर में देती अभयदान
है खड़ी मूर्त्ति, दाहिना हाथ ऊँचाकर,
मुख की अभङ्ग है सौम्यता,
औ' निर्माताओं का अखण्ड आश्वासन।
गर्भगृह के आकार,
पीछे को चितवन,
नितम्ब-दर्शन, कुच-ग्रहण,
आसन मुद्राएँ,
भङ्ग हुईं सुन्दरियों की सब
भङ्गिमाएँ।
मुँह के बल पड़ा बलाधिकृत,
जहाँ टूट कर गिरा भूमि पर
सूर्यमुखी शुभ कमल-छत्र मन्दिरका।
छिन्न चक्र रथ के है यहीं पड़े, जहाँ
जीर्ण सभ्यता मे हैं राज लगा रहे

नये कीमती जोड़,
सब बेजोड़ !

भग्न देवगृह, भग्न शिल्प के बीच,
क्यों न हरे हों खजुराहो के खेत ?
हाँ, हमें याद है,
सींच दिया है इनको अपने रक्त से,
मिटते - मिटते जाति ने ।

१९३७

कैमासन

प्रसिद्ध कैमासन की टौरियों पै,
जाता था देखने सूर्यास्त जब पढ़ता था स्कूल में।
बँगलों को पार कर, मोटे-मोटे रोड़ों में फिसलकर,
झाड़ियों से उलझकर,
पहुँचकर देखता था चोटी से,
बिछा है नगर नीचे भूमि में, मानो रसातल में।
चारों ओर टौरियों की ऊँची-ऊँची दीवारें,
दूर कभी नेरे सभी घेरे हैं क्षितिज को।
दूर कारखाने के धुँए में,
लहू-भरा लाल-लाल सूरज भी छिप जाता,
विन्ध्या की पहाड़ियों के पीछे कहीं पश्चिम में।
छाती एक शांति खपरैलों-छाये टूटे-फूटे घरों पर!

सदर की छावनी में
बज उठता साँझ का बिगुल सहसा,
टकराता स्वर दूर-दूर की पहाड़ियों से,
और फिर छा जाती स्तब्धता, ज्यो
वीरों को सुलाये हुए शान्त हो समर-भूमि!
सुन पड़ता था वहाँ शब्द बीते वर्षों का,
छिपा अब तक मानो दूर कहीं सुविस्तर शून्य में।
पास ही की टौरियों से गरजती तोपें जब
उगलती दहकते गोलों को,
टूटते फिरंगी फूटे कोट से
ओट लिये दहकते गोलों की,

चमकते सुनहरे केश रवि-किरणों की आभा से,
डूबे तेग रुधिर की धारा में,
उतरती रानी उस ओर तलवार लिये हाथ में
सेना के साथ शान्त किले के ढाल पर।
साँझ का बिगुल वह
चित्र खींचता था आतताइयों के दमन का,
और आत्मत्यागियों के निःस्पृह बलिदान का।

१९४१

कुहरे के बादल

गोल गोल चाँदी का उजला
माह-पूस का सूरज निकला,
पाले से भीगे खेतों पर,
चाँदी की किरणों से छूकर,
उठा रहा ऊपर दल के दल
धुँधले से कुहरे के बादल,
किरणों में कुछ पल को झलमल,
हो जाते आँखों से ओझल।

बीच खेत में सहसा उठ कर
खड़ी हुई वह युवती सुन्दर,
लगा रही थी पानी झुक कर,
सीधी करे कमर वह पल भर,
खड़ी हो गई सहसा उठ कर,
घेरे उसे जहाँ दल-के-दल
उठते हैं कुहरे के बादल।

पहर रात से ही पुरहाई
लगी हुई, आखिरी सिंचाई;
मूड़े पर किसान धरता पुर;
जुते हुए माँची में, मुड़कर
चलते बैल भरा पुर खींचे,
चारे के लालच से नीचे।
झूम-झूम आता पुर ऊपर,
'भजो राम' कह जन लेता धर।
उछल छुलहरे में कर छल-छल,
बरहे में हो वह चलता जल।

इधर-उधर वह पेड़ हटाती,
रुकती जल की धार बहाती,
माँगी से फिर उसे रोकती,
बिगही में जब घवा फोड़ती,
धीरे-धीरे बिगही भरती,
घवा बाँध वह आगे बढ़ती।
कठिन काम यों करती झुककर,
खड़ी हो गई सहसा उठ कर,
किरणें जहाँ उड़ा दल के दल
पी जातीं कुहरे के बादल।

माह पूस में सुर्-सुर् करती
जब ठंढी बयार यह बहती,
निखर गई धुल और निकाई,
गालों पर लाली है छाई,
ओस और पाले से धोये
फूलों से हैं अंग कपोये,
बीच खेत में सहसा उठकर,
खड़ी हुई वह युवती सुन्दर,
घेरे उसे जहाँ दल के दल,
उठते हैं कुहरे के बादल,
चाँदी की किरणों से झलमल,
हो जाते आँखों से ओझल !

१९३७

यज्ञ-प्रतिमा

तरु-पातों से बिछल रही थी जब संध्या की लाली।
धीरे धीरे हुई डगर भी पथिकों से जब खाली।
उठा छानसे धुआँ, कुण्डली खोले फन-सा छाया,
डसा हुआ-सा गाँव न जैसे मूर्च्छा से उठ पाया।
पथराई-सी दो आँखों ने बाट तुम्हारी जोही,
फिर भी लौटा नहीं भोर का भूला हुआ बटोही।

खिली जुही-वन-सी जब नीले नभ में सरद-जुन्हाई,
रजत-पटों से चमक उठे जब वनमें ताल-तराई,
भीगी पलकों-से फूलोंकी हुईं पँखुड़ियाँ गीली,
ढली रात, तब हरसिंगार-सी हुई चाँदनी पीली,
बना तभी दुःखान्त जागरण क्षण भर का सुख-सपना।
शीतल गंगा-सी कैसे तुम बनीं दग्ध मृगतृष्णा?

जली चितासी पूर्व दिशामें फिर ऊषाकी लाली,
कर्म-यज्ञमें तप्त-रुधिरकी यमने आहुति डाली,
यज्ञ-भूमि बन गया विश्व यह, समिधा हविष जुटाया,
होताने आरक्त दृगोंसे जीवन-मंत्र सुनाया।
वनवासिनि! मखमें जड़-सी क्यों बनी स्वर्ण-प्रतिमा हो?
तुम्हीं सुहागिनि, मुखर काव्यमें वाणी की महिमा हो।

१९४५

ऋतु संहार

आया वसंत
शिव के तप की पावन धरती पर पग रखता
सौरभ से पुलकित कर दिगंत।
आया मन्मथ भी संग संग,
पूनों के शशि का छत्र लगाये,
किंशुक की धनुही खींचे,
कोकिल-वन्दी के साथ मत्त मलयानिल पर,—
जब उसे न कहते थे अनंग।
वे चरण कहाँ हैं नूपुर सज्जित
अरुण-राग-रंजित जिनसे
लहलहा उठा सहसा अशोक ?
यदि एक नयन की ज्वाला शीतल हो पाती
तो वन्दी बन जाता त्रिलोक।
यह कुसुम-पात्र में पीता है
निज भृंगी के सँग मधु द्विरेफ।
उस अर्ध-निमीलित नयनों वाली हरिणी को
सहलाता है सींगों से प्रेमी कृष्णसार।
फूले कमलों से भरा ताल,
चकवा चकई दोनों सँग खाते हैं मृणाल।
इस बेला भी
भाई का ही जो खून पिये—
क्या होगा ऐसा भी दानव ?

× × ×

सूख गये हैं कुआ-बावड़ी, सूख गये हैं ताल,
जहाँ खिले थे कमल वहाँ पर सूखे पड़े मृणाल !
धरती के उर से उठ उठ कर,
नभ चूम रहे हैं क्षुब्ध बवंडर
अपनी ज्वाला में जलकर ।
किसने देखा था यह दुर्दिन,
मृग ढूँढ़ रहा है धरती पर कुछ सूखे तृण,
मुँह बाये प्यासा सिंह विकल है, नहीं देखता कहाँ हरिण
सूखे तरु पर पंछी बैठा,
झुलसे पत्तों को देख-देख कर भरता है लंबी साँसें ।
लू की लपटों से झुलस गई हैं
मानसचारी राजहंस की भी पाँखें ।
जनपद जनपद में लगी आग,
चट-चट करते हैं बांस और धू-धू करतीं लपटें कराल,
ढह-ढह पड़ती हैं मिट्टी की कच्ची दीवारें,
तड़प-तड़प कर टूट रही हैं जाँघों सी मोटी शहतीरें,
धँसती छतें गाज सी गिरतीं
बिना नींव की मिट्टी की कच्ची दीवारें ।
इस दुर्दिन में
क्या होगा ऐसा भी मानव,
कमल-पत्र की छाँही में बैठा गाता हो,
मीठे-मीठे सपनों से मन बहलाता हो ?
भस्म हो गये कर्णिकार, वे सिंधुवार,
ढूंढ़े भी मिलती नहीं छार !
वह कौन किंपुरुष गाता था,
गाते-गाते थक जाता था

तब किन्नरियों से करता था वन में विहार ?
वे भस्म हो गये गीत और किन्नर-किन्नरियों के विहार,
ढूँढ़े भी मिलती नहीं छार ।

शान्त हुई हैं लपटें, पर कच्ची दीवारें
कहीं कहीं पर खड़ी हुई हैं
मौन वेदना की काली-काली तस्वीरें ।
वहीं कहीं पर खोज रही हैं
जले अन्न के दाने मानव की संतानें ।
कब होगा वसंत फिर,
कब कञ्चन बरसेगा,
कब, हाँ, कब ? ईश्वर ही जाने ।
आज भूख से व्याकुल हो कर ढूँढ़ रही है,
जले अन्न के दाने मानव की संतानें ।

१९४३

बैसवाड़ा

एक घनी अमराई सा यह
हृदय अवध का,
जहाँ सतत बहती है गंगा,
कोयल और पपीहे के स्वर से मुखरित है।
चाँदी सी नम उर्वर धरती,
सई, लोन नदियों के जल से भीज गयी है।
खेतों में सनयी, गोहवा, सरसों की शोभा,
तालों में खिलती हैं सुन्दर कोकाबेली।
दुनियाँ मे अनुपम हैं यहाँ शरद की साँझें।
टूटे मन्दिर, लोटों में भर फूल पूजने जाती हैं बहुए, कुमारियाँ
धरती के पर्तों के नीचे
सीझ गया है यहाँ परम पावन गंगा-जल।
इस धरती पर जो अठवासे श्रम करते हैं,
उनके तन के पर्तों में अब सूख गया है
रक्त, रेत पर गिरी हुई जल की बूंदों सा।
जमींदार के 'जन' हैं सब कोरी चमार,
करते है जो नित ही बेगार,
सीला भर है जिनका पगार।
ये छोटे-छोटे खेत, और बाबा-आदम के हल-माँची;
इन कच्चे कुओं, चुहों से होती पुरहाई।
धरती की छीना झपटी से,
जाते हैं परदेश कमाने पूत किसी के।
कानपुर में मजदूरी, बेकारी

या फिर कलकत्ते में,
कपड़ों की फेरी करते हैं।
धरती के मालिक हैं सब ग़द्दार ग़दर के,—
जमींदार, ताल्लुकेदार,—
सुन्दर शरीर पर कुष्ट रोग से।

\+ + + +

आज अवध के जन-गीतो में,
सुन पड़ते हैं आज़ादी के नये तराने।
कोयल और पपीहा के स्वर में घुल मिल कर
सुन पड़ती है दूर-दूर आवाज़ नयी यह
इनक़लाब की, आज़ादी की।
गंगा की उर्वर धरती में
निर्धन जनता ने गाड़ा है अपनी आज़ादी का झण्डा।
एक दिशा में उठते हैं अब
लाखों कदम धूल-माटी मे सने हुए सब एक साथ ही।
आज़ादी की सरिता में कितनी भँवरें हैं ?
पर अदम्य अंतर्धारा सी,
इस धरती पर बहती है पावन जनगंगा।

१९४७

डलमऊ में गंगा

बालू सी जलती दुपहर में,
बहती है गंगा विरल तीन धाराओं में।
यह मौन खड़ा है दुर्ग-स्तूप।
धरती के पर्तों के नीचे,
हैं शताब्दियों से मग्न
ध्वस्त भग्नावशेष
सामंती युग के वैभव के।
कटती जाती है अविश्रान्त जलधारा से
धरती के भीतर इन दूहों की अगम नींव।
डलमऊ नगर,—
धरती के पर्तों में धँसता ही चला गया है;
ऋद्धि-सिद्धियाँ सोती हों मानो समाधि में, साथ सभी।
विकलाङ्ग खँडहरों से बाहर
आ जाते हैं कुछ नर-किन्नर।
जीवन्मृत नगरी को घेरे,
बहती हैं गङ्गा विरल तीन धाराओं मे।
जल में निमग्न मुण्डित पण्डे—
उत्तराधिकारी शास्त्रों के—
लेती हैं साथ लिवारा जल मे
गर्मी से व्याकुल होकर काली भैंसें।
पदच्युत अफसर
क्रीड़ा करता है शव-जैसा, फूला फूला,
निर्लज्ज साथ लेकर रखेल।

गंगा का कर्दम उठ-उठकर
छा जाता है जल के ऊपर।
तट पर जलती है
पाँति चिताओं की, उन नर कंकालों की,
जो भस्म हो गये पहले ही
दुर्द्धर्ष क्षुधा की ज्वाला में।
लड़ते हैं मरघट के स्वामी
बैकुण्ठ धाम के व्यय को, जलती हुई चिता के ईंधन का।
सुनसान पड़े हैं, बियाबान से,
हरे-भरे उद्यान आम औ जामुन के।
कार्तिकी पर्व का जन समूह,
बिखरा खोया है दूर कहीं पर गाँवों में।
दो धाराओं के बीच रेत की पाटी पर
दुपहर की मिट्टी मे तप कर
जलती है गंगा की भूभल।

यह भूल गया है किंतु प्रखर वैशाखसूर्य,
गंगातट मरघट के वासी यह भूल गये,
इस ऊष्मा से प्रेरित होकर
उठते हैं दूर कहीं जल पर
आषाढ़ मास के काले लहराते बादल!
धाराधर बरसेंगे सावन भादों में जब,
तब जल-निमग्न होंगे चौड़े रेतीले थल।
इन तीन विरल धाराओं से—
अप्रतिहत बहती होगी एक विशद धारा।
धू-धू करती तट की लपटें शीतल होंगी।

चातक से मुँह में सजल स्वाति की बूँदों से,
हल से बिगसी गीली धरती मे बिखरेंगे,
किसान के पौरुख से फिर नवान्न के दाने ।
हाँ, जनसंस्कृति का पर्व कार्तिकी आयेगा,
ये बिभाबान उद्यान नये जीवन से फिर संकुल होंगे ।
गत सामंती संस्कृति के मिटते ढूहों पर
आश्वस्त सुनाई देगी फिर,
गङ्गा की अविरल धारा सी
नवयुग की श्रमकर जनता की पदचाप नर्या ।

१९४७

तीसरे पहर

घुग्घू और उलूक डाल पर कर्कश बोले,
बोले वन में स्यार, गाँव में कूकुर रोये।
बरगद पर गीधों के पर करते हैं फटफट,
काले धब्बों से ऊपर चमगादड़ छाये।
बुझती लौ सी दमक उठी है पीत चाँदनी;
हुआ भोर का भ्रम बेसुध सोने वालों को।
काँव काँव घुग्घू उलूक के स्वर को समझे,
प्रात समय खगकुल गाता है मधुर प्रभाती।
गहरी निद्रासे सहसा जगने वालों को—
बोध हुआ यह तो जीवन की काल रात्रि है।
यज्ञ-ध्वंस सी,
मांस-रक्त की वर्षा होती है धरती पर।
अंधकार के दास हृदय से मना रहे हैं

यह तीसरा पहर जीवन की कालरात्रि हो।
बुझती लौ सी पीत चाँदनी, अस्थिर आभा,
क्रमशः बढ़ती हुई नहीं दिन की उजियारी।
घुग्घू और उलूक छेड़ते नहीं प्रभाती।
वन के स्यार नहीं हैं वैतालिक ऊषा के।
किन्तु क्षितिज के पार दिवा का रथ आता है,
बढ़ता ही आता है अंधकारमय पथ पर,
पूर्व गगन की ओर किरण की अविकल गति से।
नहीं मृत्यु की अमा निशा, तीसरा पहर है,
नीड़ों में खगकुल गाता है नयी प्रभाती।
निकट आ रही है क्रमशः प्रभात की बेला।
रक्त-मांस की वर्षा करने वाले राक्षस
दूर हटेंगे अँधियारे के साथ गगन से।
बुझ जायेगी पीत चाँदनी, अस्थिर आभा;
हरी दूब पर किरणों से मोती चमकेंगे।

१९४७

पंजाब का हत्याकाण्ड

आज पंचनद की धरती पर धधक उठी है ज्वाला।
विजय-चिह्न सी पड़ी गले खूनी लपटों की माला।

देशभक्ति की चिता जल उठी राख हुई मानवता।
गर्म खून की आहुति देने बैठी है बर्बरता।
गोली खाकर मरे यहाँ पर आग बुझाने वाले।
बुझा रहे थे प्यास खून की जनता के रखवाले।
डायर की सन्तान! खूब रक्षा का भार सँभाला!
आज पंचनद को धरती पर धधक उठी है ज्वाला!

लपटों की छाया में रो-रो कर बहती है रावी।
"आज़ादी की कसम यहीं खाई"—कहती है रावी।
कहती है सतलज चिनाब से-"क्या फिर डायर आया?
भगतसिंह के शव को फिर से किसने यहाँ जलाया?"
गरम खून से तर होकर रोता है जलियाँवाला।
आज पंचनद की धरती पर धधक उठी है ज्वाला।

"बढ़ी खून की प्यास! कहो कैसे जनता को रोकूँ?
आया है तूफान! अकेले कैसे उसको रोकूँ?"
"रोको, जैसे वीर लाल मोहन ने उसको रोका।
रोको लाल लहू देकर, हिंसक तूफानी झोंका।"
यह साहस की घड़ी, कौन है आगे बढ़ने वाला?
आज पंचनद की धरती पर धधक उठी है ज्वाला!

रक्तहीन पैंतीस लाख तन जब अकाल ने खाये,
और युद्ध में लाखों ने गोली से प्राण गँवाये,
है यह धरती अमर, उगलती है जनरूपी सोना।
अरे असम्भव है हत्या से इसका बंजर होना।
नई फसल फिर भी फूलेगी, रक्तबीज वह डा
भले पंचनद में धधकी हो आज मृत्यु की ज्वा

सुनी नहीं पदचाप वहाँ कलकत्ते में लाखों की।
कल के भूले मिले खून की प्यास मिटी आँखों की।
झुका यूनियन-जैक, तिरंगा फिर ऊँचा फहराया।
बाँध तोड़ कर देखो कैसे जन-समुद्र लहराया।
टूट रहा है दुश्मन ने अंतिम घेरा जो डा
भले पंचनद में धधकी हो आज मृत्यु की ज्वा

नयी फसल देगी फिर धरती लपटों से झुलसायी।
खाद बनेंगे लूट और हत्या के ये व्यवसायी।
पाँचों नदियाँ एक साथ सींचेंगी यह हरियाली।
लपटों के बदले होगी उगते सूरज की लाली।
धीमी हुई चिता की लौ, बुझने वाली है ज्वा
नहीं पंचनद अब पहनेगा यह लपटों की मा

१९४७

और भी ऊँचा उठे झण्डा हमारा

दासता के प्रलय-पारावार से फिर
यह हमारा विश्व ऊपर उठ रहा है।
देवता की कल्पना-सुन्दर उ गलियों पर न उठकर,
यह करोड़ों कामकाजी बाहुओं पर
युगों और शताब्दियों के बाद ऊपर उठ रहा है।
वेदपाठी ऋत्विजों ने
पर्वतों को फाड़कर बहते नदी-नद-निर्झरों का स्वर सुना था।
सूफियों ने, संत कवियों ने यहाँ
जन-एकता के गीत गाये।
फिर उन्हीं स्वर की लहरियों पर हमारा
देश ऊपर उठ रहा है।

दुर्ग टूटे, रक्तरञ्जित क्षेत्र विप्लव युद्ध के
यह कह रहे हैं,—
रक्त कितना बह चुका है,
घमासानों में न जाने
अगम कितने व्यूह खण्डित हो चुके हैं।
आज प्लासी के, असाई के, विकट गुजरानवाला के पुराने
ध्वस्त झण्डे युद्ध के सोये हुए मैदान से फिर,
गर्व से युग की नयी संतान को—इस
नये झण्डे को—पुलक भर देखते हैं।
देखते हैं चक्र को—भारतनियति के चक्र को,
इतिहास के दुर्गम विपथ वनखण्ड में भी,—

आज तक जिसको घुमाती ही रही हैं
अमर भारत की सनातन पीढ़ियाँ नव शक्तिशाली
नयी संस्कृति की पताका
गत-युगों के ध्वंस पर लहरा रही है।

ध्वंस पर लहरा रही है,
देखकर उज्ज्वल भविष्यत्
गर्व से मुसका रही है।
यह भविष्यत्-स्वप्न कितनी पुतलियों में,
कठिन कारावास-निर्वासन-अवधि के,
यातना-अपमान के दुःसह क्षणों में,
मृत्यु का पथ देखते फाँसी-घरों में,
अग्नि सा यह स्वप्न कितनी पुतलियों में,
जल चुका है
दूर बर्मा के वनों में,
बम्बई के सिन्धु की चंचल तरंगों पर कभी जो,
अग्नि के गोलों, धुएँ की ओट में यह
निडर काली पुतलियों में,
प्राण-बाती सा अकम्पित जल चुका है।
जल चुकी हैं बेड़ियाँ, संगीन, किर्चें,
द्वार कारावास के; यह शक्ति किसमें
बन्द रक्खे सैनिकों को—
सन् बयालिस के तरुण बलिदानियों को,
फौजियों, जन-सैन्य के विद्रोहियों को,
या नयी जनक्रान्ति के सेनानियों को,
शूरता जिनकी अनी सी बेधती है

आज भी आतंक-खाये, फिरङ्गी के मर्म को ?
वन्दियों के,
एकता स्वाधीनता के गायकों के,
और भारत की अमर जन-शक्ति के, जो
छीन कर इतिहास के निर्मम करों से
यह दिवस, निज शक्ति-परिचय दे चुकी है,
वीर गति पाये शहीदों के नये सम्मान में फिर,
और भी ऊँचा उठे झण्डा हमारा।

और भी ऊँचा उठे फहरे समूचे देश पर यह,
खेत-खलिहानों, मिलों पर झूमता हो,
कह रहा हो—
ये तुम्हारे खेत हैं;—अब
अन्न दो, भूखा न कोई देश में हो।
वस्त्र दो,—फिर
लाज ढँकने के लिये बहनें हमारी,
राह में अब हाथ फैलायें न जाकर।
यह नया सन्देश दे झण्डा हमारा।
और भी ऊँचा उठे, फहरे समूचे देश पर वह
लड़खड़ाते राजसिंहासन,
चटककर टूटते सामन्तशाही दुर्ग पर, नित
गर्व से विजयी उड़े झण्डा हमारा।
और भी ऊँचा उठे, ढाढ़स बँधाये,
हिन्द-सागर में जहाँ डच दस्युओं से,
जूझते हैं वीर हिन्दी-एशिया के,

फ्रांसीसी धनकुबेरों की भयानक यातना से
जूझते हैं हिन्द-चीनी,
याद करते है कभी जो हिन्द की संतान को दुर्दम समर में।
और भी ऊँचा उठे झण्डा हमारा,
विश्व को सन्देश दे—जनता अमर है।
खो गये इतिहास की रज मे कहीं वे आततायी,
एशिया-यूरोप-विजेता, रक्त में जो
अमरता को खोजते थे।
किन्तु कितने युगों और शताब्दियों के
मरुस्थल-वन-पर्वतों को पार करती,
अमर जन-भागीरथी यह
बह रही है और बहती ही रहेगी।
विश्व की प्राचीनतम भागीरथी के,
हिन्द-जनता की प्रखरतम
वेग से बहती हुई भागीरथी के
इस नये सम्मान में फिर
और भी ऊंचा उठे झण्डा हमारा।

१९४७

आज़ाद पताका

ऊपर नीर भरे बादल है
नीचे है आज़ाद पताका।
एक नये पौधे सी उगती
उड़ती है आज़ाद पताका।
पुरवाई के पंख लगाये
ये बादल जो उड़ते आये,
जन-सागर की देख हिलोरें
क्या अपने मनमें शरमाये ?
सागर की लहरों के सम पर
लहरायी आज़ाद पताका।
धरती की हरियाली देखो
लाल लहू में डूब न पायी।
बिजली ने झुलसाया फिर भी,
अपनी डाली सूख न पायी।
जीवन की रस-धारा जैसी
उड़ती है आज़ाद पताका।
जंग लगी पिंजड़े की सीखें,
जिस पंछी को रोक न पाईं,
सौ सौ जाल बिछाने पर भी,
पंखों की गति रोक न पाईं,
मुक्त हुए पंछी के स्वर सी,
उड़ती है आजाद पताका।

अब अकाल की आग यहाँ पर
नहीं जलेगी सत्यानाशी।
नहीं कफन को फिर तरसेंगे,
नङ्गे-भूखे भारतवासी।
अन्नपूरना के आँचल सी,
उड़ती है अज़ाद पताका।
शान्ति-सँदेसा सबको देगी,
भारत की आज़ाद पताका।
चीन, सोवियत देख रहे हैं
यह अपनी आज़ाद पताका।
दीपक की लौ सी उठती है,
भारत की आज़ाद पताका।
ऊपर नीरभरे बादल हैं
नीचे है आज़ाद पताका।

१९४७

कृष्णा तट पर विजयवाड़ा

नीली संगरमाल,
और गिरि के प्रान्तर में बसा हुआ यह
साफ और सुथरा छोटा सा नगर,
आन्ध्र जन का सामाजिक केन्द्र,
प्रसिद्ध विजयवाड़ा है।
आन्ध्र देश की शस्य श्यामला
धरती को आप्लावित करती
आन्ध्र सुतों ने
दक्षिण की गंगा सी बहती है विराट् कृष्णा की धारा।
जर्जर कर दी दस्यु-सैन्य की शक्ति यहीं पर।
कितना रक्त बहा है क्षमाशील पृथिवी पर।
कृष्णा सी कवि-सरस्वती ने
रण में क्षत वीरों को यहीं दिया संजीवन।
आज नयी आशा से आन्ध्रदेश जागा है।
युगों-युगों के पीड़ित जन उठ खड़े हुए है।
नयी चेतना से आन्दोलित
प्राणों से स्वर फूट पड़े हैं।
जिसे बेजवाड़ा कहते थे,
वही विजयवाड़ा कहलाया।
तभी आज श्यामला धरा पर
बाँधों के ऊपर उफनाती
बहती है आवेगभरी कृष्णा की धारा।

और नगर की गली गली में
श्रमिक और निर्धन चलते हैं,
लिये हाथ में विजय-पताका।
मन में यह विश्वास लिये है,
शीघ्र नगर में विजय-पर्व आने वाला है।

१९५२

महाबलिपुरम् का समुद्र तट

नील गगन से भी गहरा नीला है यह समुद्र का जल,
डूबे हैं जिसमे छः मन्दिर, ऊपर एक बचा केवल।
आंगन के ये वृषभ ध्वस्त से, आँधी-पानी सह सह कर,
अडिग देखते हैं समुद्र की ओर अभी ऊंचा सिर कर।
शिव के साथ शक्ति हैं, और निकट हैं मित्र विष्णु निश्छल,
तमिलनाडु से जुड़े हुए हों जैसे आन्ध्र और केरल।
यह विशाल चट्टान, खुदे हैं जहाँ कला के लेख अमर,
खड़े हुए हैं कृष्ण गोपियों के सँग गोवर्धन लेकर।
वीर महाभारत के पुरुष-दर्प से भुजा उठाये है,
बूढ़े द्रोण अभी तक समर भूमि में धनुष चढ़ाये है।
नीली है जलराशि और नीला नभ का मंडप ऊपर,
शताब्दियों से जीवित है अतीत निर्जन समुद्र तट पर।
महाबलिपुरम्, उत्तर दक्षिण की संस्कृतियों का संगम,
युगों युगों तक बनी रहे यह जनता की मैत्री अनुपम।

१९५२

पीरपञ्जाल

शिखर पर शिखर यह पर्वतों का अगम जाल,
पांति पर पांति छायी हुई सघन वन माल,
अतल के गर्त में वक्रगति सरित् गंभीर,
गगन को चूमते और ये पीरपञ्जाल ।

विजन इन द्रोणियों में सघन मरुत का रोर,
ध्वनित दिक्-प्रान्त में रुद्र का डमरु अति घोर,
यही नगपति, मानदण्ड इस धरा का, मेरु,
उत्तरापथ का सुदूर दुस्तर यही छोर ।

यही है दुखी उस अभिशप्त यक्ष का देश ।
सजते रहे यहीं गंधर्व नित नये वेश ।
अप्सरा ने किया यहीं एकान्त तप-भंग,
मेघ लाया यहीं यक्ष का प्रेम-संदेश ।

साँझ को जगमगे जल-भरे झील औ ताल,
विशद घाटी लिये आरती का भरा थाल ।
सघन नभ-नीलिमा में कहीं हो गया शेष
यक्ष-गन्धर्व का देश वह पीरपञ्जाल ।

१९५१

वंदिनी कोकिला

श्यामल धरती जैसी फैली हैं बरौनियां।
पुरवाई पर उड़ते मेघों से हैं कुन्तल।
यह संगीत-नृत्य की देवी।
देख मित्र को सहसा घर में,
एक ओर तन शिथिल ढाल कर,
एक साथ ही किया लाज-आसक्ति प्रदर्शन।
मन में है यह चाह
यहाँ से दूर कहीं पर
ताल वृक्ष के नीचे गाये।
भ्रूभंगों से शान्त करे सागर की लहरें।
किन्तु स्वर्ण पिञ्जर में है वंदिनी कोकिला।
गा सकती है पञ्चम में वह,
किन्तु पंख फड़का कर पिंजरे के भीतर ही रह जाती है।
वह दिन भी आयेगा जब
सोने का पिंजरा टूट जायगा।
तीली तीली बिखर जायगी।
लेकिन तब भी क्या यों ही श्यामल धरती सी
फैली होंगी ये बरौनियाँ,
और घने कजरारे कुन्तल
पुरवाई पर मेघों जैसे उड़ते होंगे ?

१९५१

चिदम्बरम्

इन घने नारियल के पेड़ों की छाया में
सोता है छोटा नगर दूर
चंचल जग के कोलाहल से।
ये घने स्तंभ जो खड़े हुए हैं मन्दिर में
सांचे में ढले हुए से गढ़े गये हैं सब
दुर्गम गिरि-पर्वत से लाई चट्टानों से।
ये खिंचे हुए पत्थर में नर-नारी सजीव
किस लोक नृत्य में रत भूले हैं देशकाल ?
जड़ प्रतिमाएँ गाती हैं यहाँ और जीवित
दर्शक प्रतिमा से मौन खड़े रह जाते हैं।
इन घने नारियल के पेड़ों की छाया में
इतिहास थम गया है अपनी गति बिसरा कर।
इस घने स्तम्भ छाये मन्दिर के प्राङ्गण में
सिन्धु की तरङ्गों के मृदङ्ग जैसे सम पर
नटराज नाचते हैं अभङ्ग मुद्रा में, मानों
काल बँध गया है चरणों के छन्दों में।

१९५२

अर्चना

यह कवि अपराजेय निराला,
जिसको मिला गरल का प्याला,
ढहा और तन टूट चुका है
पर जिसका माथा न झुका है,
नीली नसें खिंची हैं कैसी
मानचित्र में नदियों जैसी,
शिथिल त्वचा, ढल-ढल है छाती,
लेकिन अभी सँभाले थाती,
और उठाये विजय-पताका
यह कवि है अपनी जनता का !

स्वर्ण-रेख सी उसकी रचना,
काल निकष पर अमर अर्चना !
एक भाग्य की और पराजय,
एक और हिन्दी जन की जय ।
परदुखकातर कवि की भाषा,
यह अपने भविष्य की आशा—
"माँ अपने आलोक निखारो,
नर को नरक-त्रास से वारो !"
भारत के इस रामराज्य पर,
हे कवि ! तुम साक्षात् व्यंग्य शर !

१९५२

श्रेष्ठियों के देवता

अन्ध कूप में पड़े हुए हो,
तालों में तुम जड़े हुए हो।
ऊँची छत, खंभे पर खंभा,
मन्दिर क्या है, एक अचंभा।
कितने पत्थर के रखवाले,
बर्छी भाला ढाल सँभाले
दनुजों पर टूटे पड़ते है,
मानों वे अब भी लड़ते हैं।
मानव आकृतियाँ हैं सुन्दर,
पशुओं की उनसे भी बढ़कर।
सुन सुन कर जंगी नक्कारा,
आतङ्कित होता जग सारा।

हे शिव, क्या तुम वही देव हो,
आया था जिनके दर्शन को
हरिजन, जिसकी राह रोक कर
बैठा था नन्दी देहरी पर,
तुमने हटा दिया था वाहन,
जिससे वह भी करले दर्शन ?
और विष्णु हैं वही देव क्या
जिनको भजती रहती गणिका,
भजा व्याध ने वह पद पाया,
जिसे विविध सन्तों ने गाया ?

नहीं, देव तुम सभी बिराने।
वे मंदिर ढह गये पुराने
जहाँ बहाता था रस-धारा
खँजड़ी पर बजता इकतारा।
खेतों में दिन भर मर खप कर,
करघा-चरखा घर में रखकर,
आते थे हरिजन हलवाहे,
घूत-अछूत गरीब जुलाहे,
दुख मे सब सुमिरन करते थे
और नये सपने रचते थे।

अन्धकूप में पड़े हुए तुम,
मढ़े हुए सोने से अनुपम,
सुन पाये हो क्या पद ऐसे
त्यागराय ने गाये जैसे ?
या जैसी अन्दाल मगन थी,
देखी वैसी और लगन भी ?
आओ मानव रूप निहारो,
अपनी आकृति और सँवारो।
अन्धकूप से बाहर आओ,
जनमन में फिर घुलमिल जाओ।

१९५२

मातृतीर्थ : तिरुच्चिरापल्ली

लौटे दल के दल श्रमिक साँझ को अपने घर
लहराया है संगठित यहीं पर जिनका स्वर।
ढल आया और क्षितिज के पास मंद सूरज,
छा गई ताल के वृक्षों पर सोने की रज।
है मौन दुर्ग पर्वत पर वज्र-शिला सा स्थिर,
दक्षिण का गौरव ध्वजस्तंभ, चिर उन्नतशिर।

ढूँढ़ा था मीनाक्षी मंदिर मे जिसे विफल,
वह मातृतीर्थ है यही, महाकवि का संबल।
यह तमिलनाडु की अधिष्ठात्री का ही स्वर,
जो उड़ता है रह-रह पछुवा के पंखों पर।
युग-युग की तमिल भारती सहसा हुई मुखर,
एकान्त कक्ष मे गूंज उठा है कम्पित स्वर।
शारदा स्वयं गाती हैं कवि का मधुर गीत,
धुँधली आँखों में जाग उठा सहसा अतीत।

यह स्वर है वही सिन्धु-लहरों सा अप्रतिहत,
जागा था सुन कर जिसे नींद से फिर भारत।
चाहा था अरिदल ने इस स्वर को करे त्रस्त,
हो गये गीत के बैरी ही वे स्वयं ध्वस्त।
यह स्वर है जिससे काँपा रूढ़िवाद जर्जर,
सुन द्रुपदसुता जिसको टूटी दुःशासन पर
देवों सम्राटों की जिसने गाथा तज कर,
पीड़ित जनता की कथा कही, यह उसका स्वर।

कवि-हंस जिसे चाहिये मानसर के मृणाल,
हो गया भस्म, कर सहन दमन की प्रखर ज्वाल।
क्या हुआ जल गया ज्वाला में यदि उसका तन,
जीवित है अभी गीत में उसका अक्षय मन।
भारत-समुदाय स्वप्न जीवित है जनमन मे,
वह देशभक्ति, वह विश्वप्रेम भारत गण मे।
सुनता है मौन दुर्ग पर्वत पर कवि का स्वर,
सुनते हैं तन्मय उसे आज दक्षिण-उत्तर।
जागे उत्तर-दक्षिण की फिर सम्मिलित शक्ति,
जागे जनजन मे कवि की अचला देशभक्ति।
इस मातृतीर्थ पर करें प्रतिज्ञा भारतजन,
कवि-स्वप्नों के अनुकूल रचेंगे नवजीवन।

१९५२

कश्मीरी कवि महजूर के स्वर्गवास पर

कश्मीर देश की वीर गायिका
सोती है शताब्दियों से जिस प्रान्तर में,
सो गया वहीं सहसा इस युग का वैतालिक।
इन घने वीर के वृक्षों में चुपचाप सिसकती
बहती जाती है धीरे धीरे झेलम।
लाला के दिल का दाग और भी गहरा है।
चुपचाप मर्द-औरत खेतों में धान रोपते जाते हैं।
रेशम के करघों पर मजदूर चूर हो कर
चुपचाप शाम को रैनावारी जाते हैं।
कश्मीर देश की धरती पर
यह राष्ट्र संघ की जीप निकल जाती है झंडा फहराती।
फेंकी है रेशम की कमन्द
हिमगिरि के ऊँचे शिखरों पर
किस नरभक्षी हत्यारे ने ?
यह सिंहद्वार है चीन सोवियत देशों का,
यह कौन बिछाता है चुपचाप सुरंग यहाँ ?
नभ के तारे अवाक् अपनी छवि देख रहे हैं
वूलर के प्रशान्त जल में।
महजूर जहाँ सोते हैं, उस धरती को छूकर
कहता है कोई यों :
मेरा खून गर्म है
मेरा खून लाल है !
सुबह फतह पायेगी अँधियारे के ऊपर।
संगरमालों पर उसके बुन्दे चमकेंगे।

१९५२

केरल: एक दृश्य

एक घनी हरियाली का सा सागर
उमड़ पड़ा है केरल की धरती पर।
तरुपातों में खोये से हैं निर्झर,
सुन पड़ता है केवल उनका मृदु स्वर।
इस सागर पर उतरा वर्षा का दल,
पर्वत-शिखरों पर अँधियारे बादल।
हरियाली मे घनी नीलिमा मिलकर
सिन्धुराग सी छाई है केरल पर।
घनी धूम की गुञ्जें शिखर-शिखर पर,
झूम रहा हो मानों उन्मद कुञ्जर!
ऐसे ही होंगे दुर्गम कदलीवन,
कविता मे पढ़ते हैं जिनका वर्णन।
सीमा तजकर एक हो गये सरिसर,
बाहें फैलाये आता है सागर!

कल्पवृक्ष हैं यहीं, यहीं नन्दनवन,
नहीं किन्तु सुर-सुन्दरियों का नर्तन।
घनी जटाएं कूट-कूट कर बट कर,
पेट पालते हैं ज्यों-त्यों कर श्रमकर।
यही वृक्ष है निर्धन जनता का धन,
अर्धनग्न फिर भी नर-नारी के तन!

जिन हाथों ने काट-काट कर पर्वत
यहाँ बनाया है दुर्गम वन में पथ,
कब तक नन्दन में श्रमफल से वञ्चित
औरों को सम्पदा करेंगे सञ्चित ?
अर्द्ध मातृसत्ताक व्यवस्था तज कर
नयी शक्ति से जागे हैं नारी-नर ।
लहराता है हरियाली का सागर,
फिर सावन छाया है इस धरती पर ।

१९५२

बाँदा में निराला-जन्म-दिवस समारोह

बंजर बुंदेली धरती पर, केन किनारे,
कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर जहाँ से,
कोसल जन-संस्कृति के अंचल की सीमा पर
चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है।
यहीं पुराने, खपरैलों के, छोटे घर में,
बूढ़े मुन्शी जी ने पुस्तक-भवन चलाया,
गेंदे के कुछ पेड़ लगाये और साथ में
बंजर धरती में हिन्दी का प्रेम जगाया।
हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी तरुणों ने,
कविताओं, लेखों का सुन्दर चयन किया था.
चित्रकार बेचारा टी० बी० से पीड़ित है।
बाँदा के साहित्य प्रेमियों ने वसंत पर
धूमधाम से यहाँ निराला-पर्व मनाया!
समय-समय के कविवर के कुछ चित्र निकाले,
पेंसिल से भी अच्छा रेखाचित्र बनाया।
सुन्दर लिपि में गद्य-पद्य के वाक्य सजाये।
दीवारों पर महाजनों की थीं तस्वीरें,
दयानन्द, गाँधी, स्तालिन और भगतसिंह की।

प्रिय कवि! मैंने देखा, कैसे तुम जनता के
हृदय-कमल पर सरस्वती के वरद पुत्र-से
इस जीवन में महिमा-मंडित हुए, विराजे।
तुम्हें स्नेह की अक्षय निधि अर्पित करती है

तरुणों की पीढ़ी, जीवन में मार्ग खोजती
चट्टानों के बीच केन की धारा जैसी।
सम्राटों को कब यह जन-सम्मान मिला था ?
जब धरती के अनदेखे बन्धन टूटेंगे,
तब इन गिरि-मालाओं में, ग्रामों में, वन में,
करुणा में डूबी कवि की वाणी गूँजेगी,
जुही और शेफाली के स्वप्नों की वाणी,
गहन निशा में अरुण प्रात की अमर कामना।
गूँजे ! गूँजे ! भारत में जन-कवि की वाणी,
गूँजे अपराजिता धरा की गौरव-गाथा,
फिर ऊँचा माथा हो बूढ़े कालिंजर का,
बहे कगार छाप कर केन सघन सावन में।
यहाँ जहाँ हुलसी के सुत के स्वर जोड़ाये,
हे कवि ! गूँजे निर्भय बादल-राग तुम्हारा।

१९५४

आगरे में इलिया एरेनबुर्ग

इलिया एरेनबुर्ग
शहर आगरा आये,
ताज देखकर बैठे,
फूलों को भी परखा।
कहा, हमारे घर मे
ऐसा ही है पौधा।
बोलीं उनकी बीबी—
शौक इन्हे फूलों से,
लेखक से भी बढकर,
ये है अच्छे माली!
फूल उगाते है ये,
ताड़ नहीं पाते है,
मैं उन सब फूलो की
करती हूँ रखवाली।

इलिया एरेनबुर्ग
बोले, हम देखेंगे
ज़रा शहर की रौनक।
जामा मस्जिद आये,
कार वहाँ पर छोड़ी,
देखीं कुछ सुराहियाँ,
चाहा इन्हें खरीदें,
टूट जायँगी लेकिन,

सोचा फिर, जहाज़ में,
रख दीं सब दुकान में।
एक तो छुट्टी का दिन,
शाम हो गई उस पर,
भीड़ भाड़ है भारी।
लौट रहे हैं घर को
मिल-मजूर, कारीगर।
ठेले और साइकिलें
निकल नहीं पाती हैं,
फँसी भीड़ में ऐसी।

इलिया एरेनबुर्ग
खिचड़ी बाल बिखेरे,
कमल कली सी आँखें
प्रेम भाव से खोले,
कलाकार की धज से
सँभल सँभल कर आगे
बढ़ते हैं पग धरते।
देख रही हैं बीबी,
जगमग जगमग चूड़ी;
पैरिस या मौस्को में
ऐसा काम कहाँ है?
लेकर भले न पहनें,
यादगार तो होगी।
साड़ी भी कुछ देखीं,
भारतीय करघों के

उम्दा नये नमूने।
तब तक ये दुकान से
लालाजी फुर्ती से
आगे बढ़ कर आये,
फोटू से पहचाना,
परिचय तुरत कराया,
झाड़ी एक नमस्ते।
ख्रुश्चेव जब से आये,
समझ गये हैं तब से
सारे रूसी भाई
कैसे करें नमस्ते।

यों घंटे भर घूमे,
कुछ धक्के भी खाये
और धूल भी फाँकी।
शहर आगरा देखा।
मौस्को कहाँ आगरा!
प्रेमडोर में बँधकर
खिंचे चले आये हैं।
हिन्द-रूस की मैत्री
हाटों-बाजारों में
यों दृढ़तर होती है।
शाम इस तरह बीती।
लेकिन बहुत दिनों तक
याद रहेगा हमको
रूसी लेखक के सँग

भीड़भाड़ मे कैसे
बहुत देर घूमे थे।

इलिया एरेनबुर्ग !
तुमने तो देखे हैं
शहर न जाने कितने।
मौस्को भी सुन्दर है,
पैरिस का क्या कहना !
लन्दन या वाशिंगटन
इनका जिक्र करें क्या !
लेकिन शहर आगरा
शहर आगरा ही है।
तुम भी याद करोगे,
हमने उनको देखा,
जिनके पुरखो ने ही
इस दुनिया का अचरज
सुन्दरताज बनाया।
और बनायेंगे कल
हम सब ऐसा भारत,
ताजमहलसासुन्दर,
जिसमे जनता के गुण
सोने से निखरेंगे।

तुमने अतीत देखा,
वर्तमान भी परखा,
और तुम्हारी आँखें,

कमलकली सी खिलती,
हमसे यह कहती थीं,
हाँ, हमने भारत का
भविष्य भी देखा है।

१९५६

सॉनेट

–१–

अस्तप्राय शारद गगन में है दिनमान,
फैला रहा राशि-राशि सघनसुवर्ण रवि;
हरे-हरे ईख ज्वार खेतों पर एक छवि,
छायी तरुलता पुष्प दल पर असमान।
गूढ़ तन्द्रा भरे स्वर्णपुंज तव भासमान,
स्वागत संध्ये, औ' तव सुन्दर अलस वेश,
उलझाये स्वप्न छोरों से तव विस्रस्त केश
ढाँपते इमन के स्वरों से क्षिति आसमान!

स्वागत ज्वलित स्नेहदीप सांध्य तारा एक;
आँको उर-उर में सुन्दरियों के विद्यु-रेख
स्नेह-स्वर्णिमा को, निशिदूतिके हे स्वप्नाधार,
कंपित हों देह-मन-प्राण सभी अविवेक;
हो अखण्ड एक स्नेह-चेतना का समुद्रेक;
आज जन-जन को हो सुखद ये अन्धकार।

-२-

दूर अमराइयों में अस्त हुआ दिनमान,
उड़े ग्राम-पथ में गोपद-क्षुब्ध धूलि-पुंज,
उठी गृह-गृह से गगन ओर धूम-गुंज,
हुईं जहाँ एक-एक तारिकाएं भासमान।
वासर-रजनि, अहो कातर यों भीति मान
तजो नहीं दीर्घ दृग-कोरकों से दुख-नीर;
लहो लघुकर स्नेहदीप, धर पग धीर
दूर निज शयन-मन्दिर करो दीप्तिमान।

आओ प्रिय-हृदय से लालसा का अन्धकार
दूर करो, करो शुभ नव ज्योति का प्रसार;
जागे फिर प्राणों में नूतन रहस्य-ज्ञान।
वैभव के मन्दिरों में कितनी विगत वार,
जला गये यों ही मणिद्वीप कर सुकुमार,
माँगे जहाँ प्रेमियों ने प्रथम प्रणयदान!

१९३५

–३–

पार कर आशा की क्षितिज, दूर से पसार
छाया-कर गगन में, मूँदती नयन अन्ध
दिवस के, आई अन्त वासर-रजनि मन्द !
छाया ग्राम वन-उपवन पर अन्धकार ।
कठिन प्रतीक्षा-सीमा भेद औ' प्रथम वार,
सुना लाज-मन्द मंजु चरण-नूपुर-रव,
सुनहले दीप के प्रकाश में औ' देखा नव,
अस्फुट सौंदर्य-स्वप्न, कल्पना का मूर्ताधार !

मिलन-मुहूर्त वह आया काल-सीमा त्याग,
अपल अखंड वर्तमान एक उठा जाग,
काँपे देह-देह मन पुलकित प्राण-प्राण ।
कौन कहे हुआ उस काल स्नेह या विराग,
जागा मुग्ध नव कवि-हृदय में कौन राग,
गाये शेष जीवन में जिसके अशेष गान ?

-४-

रुद्ध पद्म-द्वार, अभी जागता है उस पार
कल्पना का बहुरंग ज्योत्स्ना-प्लावित लोक,
देखती सुखानुभूति-स्वप्न जहाँ के अशोक,
खोल प्रिय नयन, शयन की न रही वार।
विरल-विरल हुए नभ के नक्षत्र-हार,
झलकी सुदूर उषा-छवि की अरुण कोर,
बही पुरवाई कलि-कुसम-सुगंध-भोर,
क्षीण क्षीणतर हुआ निबिड़ निशान्धकार।

हेरो निज तनके ये तन्द्राश्लथ पट्टवास,
छुटे हुए मूर्च्छित से बाँधो घन केशपाश,
एक सुख रजनि का और हुआ अवसान,
जागे जन तज दीर्घ अन्तिम आलस्य-श्वास,
छोड़ प्रिय विहगी का नीड़ मे औ' सहवास,
गा उठा विहंग शाखा पर सुप्रभात-गान।

-५-

आज किस वेदना से व्यथित लखो हेमन्त
कान्तिहीन, ध्वस्त तरुराजि के ये पाण्डुवर्ण
उड़ा रही धूलि-संग अजस्र निर्जीव पर्ण;
खींचती है दीर्घ शीत कातर फूत्कार, हन्त !
निःशेष-दिवस बीते वर्ष का हो रहा अन्त,
तोड़ रही शय्याग्रस्त अन्तिम जीवन-श्वास
हेमन्त आसन्न मृत्यु और नव सहोच्छ्वास
फूट रहा तरु-तरु लता-लता में वसन्त !

गाओ तब मन्द मन्द्र स्वर अश्रु सिक्त गान,
विलंबित गति; बीते वर्ष का है अवसान,—
सुख-दुख का जो रहा अब तक साथी एक ।
सरस नवीन के वसन्त में औ' फूटे प्राण;
किसलय नव कुसुमों का सजा अर्घ्यदान
गाते हर्षगान करो उसका भी अभिषेक !

विद्रोही

(काज़ीनज़रुल इस्लाम की बंगला कविता का स्वतन्त्र रूपान्तर)

मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर !
मैं शास्ति शांति का नाश, त्रास मैं क्रांतिरूप;
मैं रणकामी, चिर सजग वीर !
मैं महाविश्व के महाकाश का वक्ष तोड़,
मैं रवि शशि ग्रह उपग्रह पीछे नक्षत्र छोड़,
मैं महर्लोक स्वर्लोक भेद शतकोटि लोक,
पहुँचा अलोक के लोक, त्रस्त प्रभु को शंकित करता सशोक;
मैं वसु धरा का उर विदार
मैं चिर विस्मय निकला उसमे से चमत्कार,
है अग्नि शिखाओं का पहनाया जिसे रुद्र ने कंठहार ।
मैं चिर गर्वोन्नत शीश, हेर नतशीश जिसे
उत्तुंग हिमाचलशृंग धीर ।
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर !

मैं दुर्विनीत, दुर्दम, नृशंस,
मैं महाप्रलय का सूत्रधार, नटराज, दिगम्बर, महाध्वंस,
मैं पृथ्वी का अभिशाप,
विश्व का महात्रास,
मैं अनियम, मैं उच्छृंखल
बारह सूर्यों का ताप,
सृष्टि यह एक ग्रास,
चरणों से मेरे छिन्न नियम सब शृङ्खल ।

मैं महाकाल,
वैशाखमास की वृष्टि जलद-गर्जन अकाल,
मैं उपलखंडवाहिनी घोर शतवज्ररोर-पूरित
उल्का-प्रेरित समीर ।
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर !

मैं झटिति और मैं झंझा,
मैं विद्युविनिर्मित साइक्लोन,
मैं उग्र दबाना महामृत्यु का पंजा !
मैं उद्धत उन्मद मुक्त छंद,
सोल्लास नाचता नई ताल पर महानन्द,
मैं छायानट, हम्मीर और हिंदोल-दोल,
आंदोलित करता सागर, क्षुब्ध तरंग-रोल;
मैं अग्निनयन अनिमेष, अग्निशरचापहस्त
असुरारि राम मैं सिंधुतीर !
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर !

मैं दुर्दम दैत्य निराला,
है प्राणशक्ति से पूरित हर दम प्याला;
मैं होमशिखा मैं जामदग्न्य जमदग्नि,
मैं पुरोडाश, मैं हाहुनाश, मैं अग्नि,
मैं निबिड़ सूर्य शशि ताराहीन निशावसान,
कालीकापालिकवास शृगालगृद्धसेवित
रुधिराक्त चिताधूसर मसान ।
मैं इंद्राणीसुत, चंद्र हाथ, भाल में सूर्य,
है एक हाथ बाँसुरी, दूसरे में भीषण रणमरणतूर्य;
मैं नीलकंठ, कर महासिंधु का गरलपान,

मैं जागरूक धूर्जटी अचल,
धृत जटाजूट में फेनोच्छल
गंगा की धारा प्रवहमान।
मैं अस्थिखंड-निर्मित पिनाक, मैं गांडीव,
मैं वीर किरीटी का अक्षय तूणीर तीर!
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

मैं बेदूइन, तातारवीर, चंगेज़खान,
मैं नहीं अहं को छोड़ दूसरे को देता श्रद्धार्घ्यदान,
ईशाण बजाता मैं विषाण, रव ओंकार;
डिम डिम डमरू में व्योमकेशका, प्रलयकाल का हूङ्कार;
मैं गाधिपुत्र की सृष्टि, रुष्ट दुर्वासाका हूँ महाशाप,
मैं विश्व-विरोधी महात्रास, द्वादश रवि ग्रासी राहुताप;
लांछित के उर में सुलग रही विषज्वाला मैं अपमान ज्ञान,
मैं सागर में बाड़व प्रचंड, वन में दावानल धूयमान;
मैं मुक्त कुमारी की वेणी, मैं प्रथम स्पर्श पुलकित शरीर,
उद्दाम वासना, अमिट चाह, मैं यौवन की लिप्सा अधीर।
विधवा के उर की करुण हूक, मैं भ्रांत पथिक जग से निराश,
मैं चिर अप्रतिहत आकांक्षा, मैं चिर उन्मन, मैं चिर उदास!
मैं हिम-तुषार-नीहार-हार, अंबर में अंबुद-तुमुलराग,
मैं शुष्क सहारा अंतहीन, मैं ज्येष्ठ मास, जलता निदाघ।
मैं छिपी प्रिया की नैन-सैन, कंकन-किनकिन नुपुर-रुनझुन,
मैं चुम्बन मृदु, दृढ़ आलिंगन, रति गैं, क्रीड़ा मैं, सृजन मरण।
आकाश और पाताल ताल पर तातथेई से टलमल,
मैं पतन और उत्थान, अचेतन में चेतन, मैं चिर उज्वल।

मैं विजय-वैजयंती मानव की, मैं जग जीवन की आशा,
उच्चैःश्रवा पर करती पार गगन पथ मेरी अभिलाषा।
धरती के उर में अग्निशृंग, मैं भूमिकंप घर्घर निनाद,
कर ध्वस्त नगर, लीलता त्रस्त नारीनर मैं प्रलयोन्माद।
मैं देवदूत के अग्निपंख धर, वासुकिफन पर कर नर्तन,
खींचता जगद्धात्री का अंचल, दुष्ट धृष्टमति दुःशासन।
मैं छिन्न मुंड काली कराल, मैं समरसगिनी सर्वनाश,
मैं रौरव की ज्वालाओं में हँसता वसंत का पुष्पहास।
बलराम राम मैं परशुराम, मैं चक्र सुदर्शन, हल, कुठार।
निष्पाप करूँगा फिर उदार, कलुषित धरणी को एक बार।

मैं विद्रोही, मैं रणक्लांत,
होगी उर-ज्वाला तभी शांत,
आकाश और बातास में न गूँजेगा जब मानवक्रंदन,
जब आतताइयों की न बजेगी समरभूमि मे असि झन्झन।
मैं विद्रोही भृगु, ईशवक्ष में आँकूँगा निज चरणचिह्न,
कल्पनामूर्ति मैं स्वेच्छाचारी धाता को कर छिन्न भिन्न;
लूंगा निकाल मैं अनाचार, दुख दुर्विचार।
अत्याचारी का हृदय चीर।
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

अमर सरस्वती

एक बार हो जाय क्षीण जलहीन भले ही धरती पर
गंगा की धारा,
हे कवि ! अमर रसवती है पर तेरी सरस्वती धरती की
अन्तर्धारा ।
पर्वत सा है अन्धकार, दुख का विराट् हिमवान हृदय
को तम सा चापे,
कैसा दारुण दाह, हृदय मे बाड़व जैसा ताप, अचल
भी जिससे काँपे ।
गलते हैं हिम-उपल, विफल जड़ता होती है सजल,
टूटती है हिमकारा,
तोड़ तोड़कर पर्त धरा के गहन गर्त से बहती है
करुणा की धारा ।
अमा निशा है, उगल रहा है अन्धकार घन गगन,
और जीवन पथहारा,
चमक रहा है भारत का सौभाग्य अटल, कवि ! तेरे
मानस का ध्रुवतारा ।

१९५६